(देश देशान्तरों में प्रचारित, उच्च कोटि का आध्यात्मिक मासिक-पत्र)

वार्षिक मू० २॥)

सन्देश नहीं मैं स्वर्ग लोक का लाई ।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आई ॥

एक अङ्क का ।)

सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, सहा० सम्पादक—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए०

वर्ष ६] मथुरा, १ सितम्बर सन् १९४८ ई० [अंक

कमाई के साथ साथ दान का भी ध्यान रखो।

लालच की भावना का शरीर पर घातक असर हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए दान या उदारता को उसका निवारण उपाय बताया गया है। हिन्दू धर्म शास्त्रों के अनुसार पञ्च महायज्ञ करना आवश्यक है। गीता में भगवान कहते हैं—'जो दूसरों को दिये बिना खाता है, वह चोर है। अपने लिये पकाने वाला पाप खाता है।' बड़ी २ इमारतों के ऊपर लोहे की एक ऐसी छड़ लगाई जाती है, जो आकाश से आने वाली बिजली को लेकर भूमि में चली जाने दे। यदि ऐसी छड़ न लगाई जाय तो आकाश की बिजली के तीव्र प्रवाह को वह इमारत न सह सकेगी और फट जायगी। दान की भावना ऐसी ही लौहशलाका है, जो मनुष्य-जीवन को फटने से बचा लेती है। जिस प्रकार नित्य कमाना आवश्यक है, उसी तरह नित्य देना भी आवश्यक है। यों तो लालची भी देते हैं, अपनी स्त्री, पुत्रों को देते हैं, यह देना नहीं हुआ, इससे भार हलका नहीं होता। निस्स्वार्थ भाव से देना सच्चा दान है। जिसको जिस वस्तु का अभाव है, जो अपने बलबूते पर उस वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता, उसे वह देना दान है। सार्वजनिक कामों के लिए सामूहिक सेवा के लिये देना सबसे उत्तम दान है। विद्या और ज्ञान के प्रचार में जो दान दिया जाता है, वह ब्रह्म दान है और इससे दूसरे जन्म में अवश्य ही मनुष्य जन्म मिलता है, क्योंकि ज्ञानदान का फल ज्ञान ही मिलना चाहिए और ज्ञान योनि केवल मनुष्य शरीर ही है।

———

सेवाधर्म।

(जार्ज सिडनी अरेण्डल)

एक आमका वृक्ष है—अपने पल्लवाञ्चल को डुला डुलाकर अभ्यागत पथिकों को पंखा झलता है—अपने हाथ पर बैठी हुई कोयल से दूर दूर के पथिकों को हँकारने को कहता है—आगत अतिथियों को दतौन (दन्तधावन)—शीतल छाया—पल्लवका दोना (जलपात्र)—देकर सादर स्वागत करता है—मधुर मधुर फल चखाता है—पत्थर की चोट सहकर भी अमृत की घूंट पिलाता है। बस, अपना सर्वस्व व्ययकर देने पर—जीर्णावस्था प्राप्त होने पर यज्ञ का समिधा बनकर सेवा करता—पाक प्रस्तुत करने के लिये अपनी देह जलाता—कोयला बनकर भी सोना का मल धोता और अपनी उस खाक (भस्मराशि) में से भी किसी की जीविका उपजाता है। अहा! धन्य! ठीक, उसीकी मूर्ति अपने सामने आदर्श रूप से रखलो "तुल्य निन्दा समोस्तुतिः" का अर्थ जान लो और सेवापथपर बेखटके अग्रसर होते चले जाओ।

\+ + +

सच्ची सेवा इसी में है कि तुम अपने जीवन को दूसरे के जीवन के साथ मिला दो। चाहे किसी तरह से हो--यह प्रगट करने की चेष्टा कदापि न करो कि तुम एक अनुकरण योग्य पुरुष हो।

\+ + +

अच्छा यही है कि पहले काम करो तब कुछ बोलो। यह नहीं कि काम करने के पहले ही बक बक करने लगो। सबसे अच्छी बात तो यही है कि कार्य्य करो और एक दम चुप हो रहो।

\+ + +

जो विश्वसेवा करने को तत्पर होता है उसे अपना सर्वस्व सेवा-हितमें अर्पण करने को प्रस्तुत रहना चाहिये—जिससे वह सचमुच 'विश्वसेवक' कहलाने का अधिकारी हो।

\+ + +

संसार में ऐसा कोई नहीं है जो किसी प्रकार की सहायता न चाहता हो और ऐसा भी संसार में कोई व्यक्ति नहीं जो दूसरों की कुछ सहायता न कर सके।

जब तुम दूसरे किसी की सेवा में रत हो तो इस बात का पूरा ध्यान रखो कि यदि तुम्हारी सेवा शुद्ध और सच्ची होगी तो उसके दोषों के वेग भी मुड़कर आगे (भविष्यत्) में सत्पथ के ओर प्रवाहित होने लगेगा तुम उसकी गमन-शक्ति का प्रतिरोध नहीं कर सकते किन्तु तुम्हें उसका रूप और उसकी राह--चाल—गतिके परिवर्त्तन में सचेष्ट होना पड़ेगा।

\+ + +

तुम्हारा यदि विचार है कि जिस दशा में तुम हो उससे भी कहीं उत्तम दशा में होते तो विश्व की अच्छी सेवा कर सकते और अपनी वर्त्तमान दशा के अनुसार तुम यथाशक्ति अखिल विश्वकी की सेवा में अपनी क्षुद्र शक्तिका सदुपयोग कर रहे हो तो तुम्हारी सेवा करने की पहली बड़ी चिन्ता इस दूसरी सेवा से कहीं बढ़चढ़कर है। सेवा करने की लालसा है पर सामग्री का अभाव है तो उस प्रथमाङ्कुरकी रक्षा करो और उसकी सहायता ले लेकर दूसरों की सहायता करो।

\+ + +

निस्वार्थता पूर्वक जो प्रेममयी सेवा दूसरों के द्वारा तुम्हारी की गई हो—उसे तिरस्कार मत करो—उसकी ओर उदासीनता न प्रकट करो—सावधान! विचार करो कि सेवा करने में जितनी सहृदयता की आवश्यकता है उतनी ही सेवा प्राप्त करने में भी।

\+ + +

मथुरा १ सितम्बर सन् १९४८ ई०

अपने चरित्र का निर्माण करो

जिसे तुम अच्छा मानते हो, यदि तुम उसे अपने आचरण में नहीं लाते तो यह तुम्हारी कायरता है। हो सकता है कि भय तुम्हें ऐसा नहीं करने देता हो, लेकिन इससे तुम्हारा न तो चरित्र ऊंचा उठेगा और न तुम्हें गौरव मिलेगा। मनमें उठने वाले अच्छे विचारों को दबाकर तुम बार बार जो आत्म हत्या कर रहे हो आखिर उससे तुमने किस लाभ का अन्दाजा लगाया है?

शान्ति और तृप्ति, आचारवान् व्यक्ति को ही प्राप्ति होती है। जो मनमें है वही वाणी और कर्म में होने पर जैसी शान्ति मिलती है उसका एक अंश भी मन वाणी और कर्म में अन्तर रखने वाले व्यक्ति को प्राप्त नहीं होता। बल्कि ऐसा व्यक्ति घुट घुट कर मरता है और दिन-रात अशान्ति के ही चक्कर में पड़ा रहता है।

घुट-घुट कर लाख वर्ष जीने की अपेक्षा उस एक दिन का जीना अधिक श्रेयस्कर है जिसमें शान्ति है, तृप्ति है। परन्तु भय का भूत मनुष्य को न जिन्दा ही रहने देता है और न मरने ही देता है। भय की उत्पत्ति का कारण आसक्ति है, मोह है। शरीर का मोह, धन का मोह आदमी को कहीं का भी नहीं रहने देता, शरीर का चाहे जितना मोह करे उसे किसी न किसी दिन मिट्टी में मिलना ही है. अमर हो ही नहीं सकता तब फिर उसे आत्मोन्नति के साधन के लिए उपयोग में न लाकर जो लोग उसका भार ढोकर चलते रहना पसन्द करते हैं, पसन्द करते ही नहीं बल्कि चलते रहते हैं वे आत्मा को अन्धेरे की ओर ही गिराते हैं। धन और शरीर ये जीवन के लक्ष्य नहीं हैं, जीवन का लक्ष्य तो है आत्मा की उन्नति, आत्मा की प्राप्ति। इसलिए शरीर और धन का जो लोग इसके लिए उपयोग नहीं करते वे प्राप्त साधनों का दुरुपयोग न करके अपने भावी जीवन में किसी महान संकट के लिए निमन्त्रण देते हैं।

जीवन और अच्छे जीवन के लिए यह आत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए अपने आपकी खोज खबर रखता रहे। आत्म निरीक्षण करता रहे और फिर चतुर जर्राह की तरह जहां जहां आत्मोन्नति की बाधक शक्तियां और वृत्तियां काम कर रही हों उनकी चीरफाड़ करता और उन्हें हटाता रहे। आत्म निरीक्षण और आत्म शुद्धि की वृत्ति को स्वभाव में बिना लाये कभी भी किसी व्यक्ति का चरित्र महान नहीं हुआ है। बल्कि चरित्र निर्माण के ये दोनों ही महान साधन हैं।

मानव स्वभावतः कमजोर नहीं है पर आस-पास का वातावरण उसे कमजोर बना देता है। सामाजिक परिस्थितियां—कायदे-कानून मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकते हैं और सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य समाज द्वारा परित्यक्त किये जाने के भय से आतंकित रहता है, इसलिए अन्दर गन्दगी बढ़ती रहती है। लेकिन जिसे अपने लक्ष्य का ज्ञान रहता है और अटूट श्रद्धा के साथ लक्ष्य पर पहुंचने की दृढ़ता को कायम रखता है उसे समाज के दुर्विधानों की बेड़ियां जकड़े नहीं रहतीं। वह इन्हें तोड़ता फोड़ता आगे बढ़ता है और स्वयं अपना ही

उद्धार नहीं करता बल्कि समाज का भी पुन-र्संस्कार कर डालता है। ऐसा व्यक्ति महान होता है।

ज्ञान को आचरण में बदल कर मनुष्य महान बनता है। इस महानता का सबसे बड़ा गुण है अभयदान। इसलिए जो चरित्रवान होते हैं वे निर्भीक होते हैं। वे आत्मा को अजर अमर मानते हैं और दुःख सुख को मानसिक विकार। जिन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती वे ही इन विकारों में फँसे रहते हैं इसलिए सम्पन्न होने पर भी सुखी नहीं रहते। लेकिन जिन्होंने विकारों के तत्त्व को समझ लिया है और जिन्हें आत्मा की पूर्णता का परिचय मिल गया है। ऐसे आत्माराम पुरुष सिर्फ अपने को ही नहीं तारते बल्कि वे संसार के तरण-तारण हो जाते हैं।

चरित्र, मानव—आत्मा को पूर्ण विकसित करता है इसलिए आरंभ में भले ही किन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़े परन्तु अन्त में वे कठिनाइयां ही जीवन को उज्ज्वल करने वाली दिखने लगती है। इन कठिनाइयों को पार कर मानव तपःपूत हो जाता है। आत्मा निखर उठती है। तब अभाव नाम के किसी भी तत्त्व का उसके लिए कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। इसलिए चरित्र की ही उपासना करनी चाहिए और चरित्रवान् बनने का ही संकल्प। इस अकेले को लिया तो सब कुछ पा लिया समझो।

सच्ची अहिंसा का मर्म।

(लोकमान्य तिलक)

मनु ने सब वर्ण के लोगों के लिए नीति धर्म के पांच नियम बतलाये हैं—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः! (मनु १०-६३) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, कायाकी और मन की शुद्धता एवं इन्द्रिय निग्रह। इन नीति धर्मों में से अकेली अहिंसा ही का विचार कीजिये। अहिंसा परमोधर्मः (महा० भा० आ० ११-१३)। यह तत्व सिर्फ हमारे वैदिक धर्म ही में नहीं किन्तु अन्य सब धर्मों में भी प्रधान माना गया है। बौद्ध और ईसाई धर्म ग्रन्थों में जो आज्ञायें हैं उनमें अहिंसा को, मनु की आज्ञा के समान, पहला स्थान दिया गया है। सिर्फ किसी की जान ले लेना ही अहिंसा नहीं है। उसमें किसी के मन अथवा शरीर को भी दुःख देने का समावेश किया गया है, अर्थात् किसी सचेतन प्राणी को किसी प्रकार दुःखित न करना ही अहिंसा है। इस संसार में सब लोगों की सम्मति के अनुसार यह अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु अब कल्पना कीजिये कि हमारी जान लेने के लिए या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिए अथवा हमारे घर में आग लगाने के लिए या हमारा धन छीन लेने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करने वाला हमारे पास कोई न हो, तो उस समय हमको क्या करना चाहिए?—क्या 'अहिंसा परमोधर्मः' कह कर ऐसे आततायी मनुष्य की उपेक्षा की जाय? या यदि वह सीधी तरह न माने तो यथा शक्ति उस पर शासन किया जाय? मनु कहते हैं—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

अर्थात आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले, वहां यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान ब्राह्मण है। शास्त्र कार कहते हैं कि (मनु०, ३५०) ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करने वाले को नहीं लगता किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म ही से मारा जाता है। आत्म रक्षा का

यह हक, कुछ मर्यादा के भीतर, आधुनिक फौज़दारी कानून में भी स्वीकृत किया गया है। ऐसे मौकों पर अहिंसा से आत्म रक्षा की योग्यता अधिक मानी जाती है। भ्रूण हत्या सबसे अधिक निन्दनीय मानी गई है, परन्तु जब बच्चा पेट में टेढ़ा होकर अटक जाता है, तब क्या उसको काटकर निकाल नहीं डालना चाहिए। यज्ञ में पशु का वध करना वेद ने भी उचित माना है (मनु० ५-३१) परन्तु पिष्ट पशु के द्वारा वह भी टल सकता है (म०भा०शां० ३३७।अनु० ११५।५६) तथापि हवा, पानी, फल इत्यादि सब स्थानों में जो सैकड़ों जीव जन्तु हैं उनकी हत्या कैसे टाली जा सकती है? महाभारत में (शां० १५० २६) अर्जुन कहता है—

सूक्ष्म योनीति भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्ध पर्ययः॥

"इस जगत में ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं कि जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से देख नहीं पड़ता, तथापि तर्क से सिद्ध है। ऐसे जन्तु इतने हैं कि यदि हम अपनी आंखों के पलक हिलावें तो उतने ही से उन जन्तुओं का नाश हो जाता है।" ऐसी अवस्था में यदि हम मुख से कहते रहें कि "हिंसा मत करो, हिंसा मत करो" तो उससे क्या लाभ होगा। इसी विचार के अनुसार अनुशासन पर्व में (अनु० ११६) शिकार करने का समर्थन किया है। वनपर्व में एक कथा है कि कोई ब्राह्मण क्रोध से किसी पतिव्रता स्त्री को भस्म कर डालना चाहता था, परन्तु जब उसका यत्न सफल नहीं हुआ, तब वह स्त्री की शरण में गया। धर्म का सच्चा रहस्य समझ लेने के लिए उस ब्राह्मण को उस स्त्री ने किसी व्याध के यहां भेज दिया। वह व्याध मांस बेचा करता था, परन्तु था अपने माता-पिता का बड़ा भक्त। इस व्याध का यह व्यवसाय देखकर ब्राह्मण को अत्यन्त विस्मय और खेद हुआ। तब व्याध ने अहिंसा का सच्चा तत्त्व उसे समझा या और कहा कि इस जगत में कौन किसको नहीं खाता? 'जीवो जीवस्य जीवनम्' (भाग०१-१३-४६) यही नियम सर्वत्र देख पड़ता है। आपत्काल में तो "प्राणस्यान्नमिदं सर्वम्" यह नियम सिर्फ स्मृतिकारों ने ही नहीं (मनु० ५-२८, म० भा० शां० १५-२१) कहा है किन्तु उपनिषदों में भी स्पष्ट कहा गया है (वे० सू० ३-४-२८ छां० ५-२-८ बृं० ६-१-१४) यदि सब लोग हिंसा छोड़ दें तो क्षात्र धर्म कहां और कैसे रहेगा, यदि क्षात्र धर्म नष्ट होजाय तो प्रजा की रक्षा कैसे होगी? सारांश यह है कि नीति के सामान्य नियमों ही से सदा काम नहीं चलता, नीति शास्त्र के प्रधान नियम—अहिंसा—में भी कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पड़ता है।

बल की उपासना कीजिए।

(आचार्य विनोबा भावे)

'बलं बलवतामस्मि काम राग विवर्जितम्'। वाक्य गीता में कहा गया है। काम और राग से रहित बल भगवान की अपनी शक्ति है अपनी विभूति है। जब भगवान की उपासना करनी है तो भगवान के ऐसे ही बल की उपासना करनी चाहिए। वैराग्य युक्त निष्काम बल की मूर्ति हनूमानजी है, इसी लिए हर एक व्यायाम शालाओं में उनकी मूर्ति स्थापित की जाती है। हनूमानजी वैराग्य युक्त और निष्काम बलके पुतले थे। रावण भी बलवान था लेकिन न वह निष्काम था और न वैराग्य युक्त। उसका बल भोगने के लिए था, दूसरों को दुःख देने के लिए था। वह पहाड़ उठा लेता था, वज्र तोड़ डालता था, इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा

बल धूल में मिल गया। लेकिन हनूमानजी अजर हैं, अमर हैं। रावण के बल में भोग वासना थी, वह बल के द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था, हनूमानजी बलके द्वारा सेवा करना चाहते थे। जिस बल का उपयोग सेवा के लिए किया जाता है, वह टिकता है, अमर होता है पर भोग के लिए अर्पण किया हुआ बल जहां अपना नाश करता है वहां संसार के नाश का भी कारण होता है।

सीता की खोज में संलग्न हनूमानजी समुद्र के किनारे बैठे हैं। और भी प्रमुख प्रमुख बन्दर हैं। सब ही लंका पार करने के लिए अपनी अपनी बल-बुद्धि का वर्णन कर रहे हैं। परन्तु हनूमान जी मौन हैं भगवान के स्मरण में मग्न हैं। जाम्बवन्तजी हनूमानजी से कहते हैं, लंका के पार जाओगे। हनूमानजी कहते हैं, जैसी आपकी आज्ञा होगी, आपका आशीर्वाद होगा, तो जाऊंगा।'' जितने विनय के शब्द हैं, कितने वीतराग हैं वे। वे कहते हैं" मैं राम के भरोसे यहां आया हूं, मेरी भुजाओं में बल है या नहीं, यह नहीं जानता। पर राम का बल अवश्य मेरे पास है।

भुजाओं के बल का अर्थ है शारीरिक, श्रम करने की शक्ति। इसी के लिए तो हाथ होते हैं। सेवा करने के लिए ही तो मनुष्यों को हाथ दिए हैं। पशु के हाथ नहीं होते। हमारी कलाइयों में जो सेवा करने की शक्ति है। वह किसकी शक्ति है, हनूमान जी इसे जानते हैं तभी तो वे कहते हैं, राम का बल अवश्य मेरे पास है। यह क्या है राम की शक्ति, आत्मा की शक्ति।

जिस बल की आत्मा में श्रद्धा न हो, राम में श्रद्धा न हो, वह बेकार है। वह बल सेवा के लिए नहीं हो सकता वह तो भोग के लिए है। ऐसा भुजाओं का बल तुच्छ है, वह निराधार है, वह पशु बल है। बल को तो आत्म श्रद्धा पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बल भी आत्मश्रद्धा के बल पर बलवान हो जाते हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि जिसमें श्रद्धा का बल है वह दूसरे सौ आदमियों को कँपा देगा। हनूमान में यही श्रद्धा का बल था। उनकी स्तुति परक जितने भी ध्यान हैं उनमें शारीरिक बल का कहीं कोई वर्णन नहीं है। बल्कि उन्हें कहा गया है कि वे मन और पवन के समान वेगवान थे। जितेन्द्रिय थे। "बुद्धिमान् थे, नायक थे और थे रामदूत। यह है बल के देवता की मूर्ति। इसी लिए तो बल की उपासना करने वाले में वेग चाहिए। स्फूर्ति चाहिए, सामने कार्य देखते ही आनन्द से छलांग मारने का उत्साह होना चाहिए। मनमें सेवा की भावना है, शरीर आलस्य में लोट पोट होरहा है ऐसा शरीर किस काम का। सेवक को तो ऐसा होना चाहिए कि सेवा करने के लिए बात मनमें उठे पीछे शरीर पहले ही चल पड़े।

शरीर में इस प्रकार का वेग होने के लिए जितेन्द्रिय होना चाहिए। उसके लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। इन्द्रियों पर काबू होना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है। संयम के बिना कभी किसी को सच्चा बल नहीं मिलता। वेग और संयम के साथ बुद्धि भी होना चाहिए तथा कर्म कुशलता भी होनी चाहिए। कल्पना और प्रतिभा भी चाहिए। इसके अतिरिक्त चाहिये राम की सेवा करने की भावना। राम की श्रद्धा-भक्ति। यह श्रद्धा और भक्ति मन को शुद्ध करेगी, भीतरी शरीर को निर्मल बनायेगी। बाहरी और भीतरी शुद्धि से—बलवान और भक्तिवान् बनकर सेवा के लिए तत्परता आवेगी। तभी तो सच्चा बल मिलेगा, ऐसा बल जो कभी क्षीण नहीं होता जो हमेशा अजर और अमर रहता है। जो कभी निष्फल नहीं जाता जैसा कि श्री हनूमानजी का। इसी बल की उपासना करना हनूमानजी की सच्ची उपासना करना है। देश को ऐसे ही उपासकों की आज आवश्यकता है।

आत्म निर्माण का मार्ग।

मनुष्य का अन्तःकरण कुछ विश्वासों से आच्छादित रहता है। इन विश्वासों के आधार पर ही उसकी जीवन यात्रा संचालित होती रहती है। मन, बुद्धि और चित्त की प्रेरणा इन विश्वास बीजों से प्राप्त होती है। शरीर की क्रियायें मन बुद्धि की इच्छानुसार होती हैं। इस प्रकार शरीर और मन दोनों की गतिविधि इन विश्वास बीजों पर अवलम्बित होती है।

कुछ विश्वास बीज तो प्राणी पूर्व जन्मों से संस्कार रूप में साथ लाता है पर अधिकांश का, निर्माण इसी जीवन में होता है। माता पिता के कुटुम्बियों के, पड़ौसियों के विचार व्यवहार का बहुत सा भाग बालक ग्रहण करता है। सामने घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव, वातावरण और परिस्थितियों का प्रभाव बच्चे पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। बड़े होने पर पुस्तकों से, मित्रों से, समाचारों से, प्रवचनों से तथा अपनी तर्क शक्ति से वह कुछ निष्कर्ष निकालता है। इन निष्कर्षों के विरोध में कोई जबरदस्त तर्क या कारण सामने न आवे तो वे विश्वास बीज की तरह मनोभूमि में गढ़ जाते हैं और वहां अपनी जड़ें गहराई तक जमा लेते हैं। इन बीजों के जो पौदे उगते हैं उन्हें हम विचार या कार्य के रूप में प्रकट होता हुआ देखते हैं।

मनुष्य अहंकार प्रधान प्राणी है। उसे 'अहम्' सबसे अधिक प्रिय है। जिस वस्तु के साथ वह इस 'अहम्' को जोड़ लेता है वह वस्तुयें भी उसे प्रिय लगने लगती हैं। स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, यश, अपने हों तो प्रिय लगते हैं, पर यदि वे ही दूसरे के हों तो उसमें कुछ रुचि नहीं होती। कभी कभी तो उलटे ईर्षा, जलन, डाह तक होता है। अपने दोष सुनने का धैर्य बड़े बड़े धैर्यवानों को नहीं होता और अपनी प्रशंसा सुनने के लिए बड़े बड़े त्यागी अधीर होजाते हैं। यही 'अहम्' भाव अपने विश्वास बीजों के साथ संयुक्त होजाता है तो वह अपने धन या स्त्री पुत्रों के समान प्रिय लगने लगते हैं। जैसे अपनी वस्तुओं की निन्दा या क्षति होते देख कर क्रोध उमड़ता है और निन्दा या क्षति करने वाले से संघर्ष करने को उठ पड़ते हैं वैसे ही अपने विश्वास बीजों के प्रतिकूल किसी विचार या कार्य को सामने आया देखकर मनुष्य अपनी सहिष्णुता खो बैठता है और विरोधी के प्रति आग बबूला होजाता है।

यह विश्वास बीज दो काम करते हैं (१) मन और शरीर को एक नियत दिशा में कार्य करने को प्रेरित करते हैं (२) अपने से प्रतिकूल विश्वास बीज वालों के प्रति घृणा, विरोध या संघर्ष उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका मानव जीवन में बड़ा महत्व है। इनके थोड़े से हेर फेर के कारण जीवन का रूप स्वर्ग से नरक में और नरक से स्वर्ग में परिणत होजाता है।

आज झूठ बोलने, मनोभावों को छिपाने और पेट में कुछ रखकर मुँह से कुछ कहने की प्रथा खूब प्रचलित है। कई व्यक्ति मुख से धर्मचर्चा करते हैं पर उनके पेट में पाप और स्वार्थ बरतता है। यह पेट में बरतने वाली स्थिति ही मुख्य है। उसी के अनुसार जीवन की गति संचालित होती है। एक मनुष्य के मनमें विश्वास जम होता है कि "पैसे की अधिकता ही जीवन की सफलता है" वह धन जमा करने के लिए दि[illegible] रात जुटा रहता है। जिसके हृदय में यह धारणा है कि इन्द्रिय भोगों का सुख ही प्रधान है "वह भोगों के लिए बापदादों की जायदाद फूं[illegible] देता है। जिसका विश्वास है कि "ईश्वर प्राप्[illegible] सर्वोत्तम लाभ है।" वह धन और भोगों [illegible] तिलाञ्जलि देकर सन्त का जीवन बनाता है जिसे देशभक्ति की उत्कृष्टता पर विश्वास है व[illegible]

अपने प्राणों की भी बलि देश के लिए देते हुए प्रसन्नता अनुभव करता है। जिसके हृदय में जो विश्वास जमा बैठा है वह उसी के अनुसार सोचता है, कल्पना करता है, योजना बनाता है, कार्यकरता है और इस कार्य के लिए जो कठिनाइयां आपड़ें उन्हें भी सहन करता है। दिखावटी बातों से, बकवास से, बाह्य विचारों से नहीं वरन् भीतरी विश्वास बीजों से जीवन दिशा का निर्माण होता है।

सामाजिक रीतिरिवाज, जाति पांति, छूत छात, विवाह शादी, खान पान, मजहब, सम्प्रदाय, ईश्वर, धर्म, परलोक, भूत, प्रेत, देवी, देवता, तीर्थ, शास्त्र, संस्था, राजनीति, चिकित्सा, आचार, विचार, मनोरंजन एवं अपनी तथा दूसरों की आत्मस्थिति के संबंधमें कुछ विश्वास जमे होते हैं। उनके आधार पर ही शरीर और मस्तिष्क के कलपुर्जे काम करते हैं। एक मनुष्य की इच्छा, आकांक्षाएं, विचार धारा एवं कार्य प्रणाली दूसरे से भिन्न होती है। इसका कारण उनके विश्वास बीजों की भिन्नता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शास्त्रों में आत्मा को निर्लिप्त, शुद्ध, पवित्र कहा है पर यह विश्वास बीज ही उसे एक दूसरे से प्रथक, संकीर्ण, एवं भला बुरा बना देते हैं।

मस्तिष्क को बहुधा उसी दिशा में कार्य करना पड़ता है जो अन्तर्मन की प्रेरणा होती है। जैसे एक व्यक्ति के अन्तर्मन में "कामुकता का रस" विश्वास बीज के रूप में जमा हुआ है। अब बाहरी मस्तिष्क को ऐसी ऐसी तरकीबें सोचनी पड़ेंगी कि उस रस को कहां, किस प्रकार, कैसे, आस्वादन किया जासकता है। इसी प्रकार धार्मिक सामाजिक, व्यक्तिगत क्षेत्रों में जो जो विश्वास जमे होते हैं उन्हीं की पुष्टि और संतुष्टि करने के लिए बेचारे बाह्य मस्तिष्क को काम करते रहना पड़ता है।

एक वकील एक मुकदमे को अपने हाथ में लेता है। वह निश्चय करता है कि अपने मुवक्किल को मुझे जिताना है। जब यह धारणा उसने करली तो फिर उसकी शिक्षा एवं बुद्धि के आधार पर तैयार हुई बाह्य मस्तिष्क की मनोभूमि उसी दिशा में काम करने लगती है। फलस्वरूप वह अनेकों कानूनी बारीकियां, बहस के लिए अनेक तर्क, एवं मुकद्दमे के अनेकों स्वपक्षीय आधार निकाल लेता है, और अपनी विद्वत्ता से इस प्रकार मुकद्दमा लड़ाता है कि यदि केवल उसी की बात सुनी जाय तो साधारण व्यक्ति को यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि इस वकील का प्रतिपादन ही ठीक है। अब दूसरा पहलू लीजिए, यदि इसी वकील ने इसी मुकद्दमे के दूसरे पक्ष का वकील होना स्वीकार किया होता तो उसका मस्तिष्क बिलकुल दूसरी ही दिशा में काम करता। तब वह ऐसे ऐसे रास्ते निकालती जो आज के प्रतिपादन से बिलकुल विपरीत होते। उस समय वह कानूनी बारीकियां ऐसी ऐसी खोज लाता जिसके अनुसार आज के मुवक्किल का विरोधी प्रतिपक्षी—जीतता। जिस प्रकार वकील की मूलभूत धारणा—पक्ष ग्रहण—के आधार पर उसकी बुद्धि को दौड़ना पड़ता है उसी प्रकार प्रायः सभी मनुष्यों के बाह्य मस्तिष्क भीतर जमे हुए संस्कारों के पृष्ट पेषण में नानाप्रकार के तर्क और विवाद के मुद्दे तलाश किया करते हैं। धन कमाने का विश्वास वकील के मस्तिष्क को उलटा चलने के लिए भी प्रेरित कर सकता है और सीधा चलने के लिए भी।

देश देश और जाति जाति में जो प्रथकताऐं पाई जाती हैं, वह इस विश्वास प्रथकता का ही चिन्ह है। योरोप में कुमारी लड़कियां किसी पुरुष के साथ नृत्य कर सकती है, अपने तरुण मित्रों के साथ रात बितासकती हैं, विवाह से पूर्व माता भी बन सकती हैं, ऐसा होने पर कोई आश्चर्य की बात नहीं समझी जाती। क्योंकि यह

प्रथा उनके व्यवहारिक रीति रिवाजों में शामिल है। परन्तु यदि भारतवर्ष के हिन्दू परिवार की लड़कियां ऐसा आचरण करें तो इससे तहलका मच सकता है। पाश्चात्य देशों में ७०-८० वर्ष की स्त्रियां भी अपना विवाह करती हैं पर पूर्वीय देशों में ऐसा होना एक अचंभे की बात होगी। भारत वर्ष के विभिन्न प्रान्तों के पहनाव उढ़ाव और रहन सहन में काफी अन्तर है। महाराष्ट्र की महिलाऐं सिर खुला रखती हैं धोती कंधे से ओढ़ती हैं और पुरुषों की तरह धोती की लांग लगाती है पर यदि यू० पी० की स्त्रियां ऐसा पहनावा पहनें तो उन्हें पारिवारिक कोप का भाजन बनना पड़ेगा। काश्मीर में हिन्दुओं के घरों में मुसलमान रसोइए काम करते देखे गए हैं पर वैसी रिवाज को यू० पी० के हिन्दू स्वीकार नहीं करते। इस भिन्नता के साथ साथ एक विशेषता और है वह यह कि लोग अपने अपने स्थानों के रिवाजों को उचित, लाभदायक एवं धर्म संगत मानते हैं तथा दूसरों के यहां के रिवाजों का विरोध करते हैं। उनके तर्क, अपने विश्वासों के समर्थन का ही प्रयत्न करते हैं।

साम्प्रदायिक, जातिगत, दलगत, प्रान्तीय, रीति रिवाजों एवं विचार धाराओं के सम्पर्क के कारण मनुष्य उन्हें ग्रहण कर लेता है। आमतौर से मनुष्य का स्वभाव नकल करने का है। तर्क एवं विवेक का वह कभी कभी और कहीं कहीं ही प्रयोग करता है। कारण यह है कि तर्क करने और दूर दर्शिता पूर्ण बारीकी से विचार करने में मस्तिष्क को विशेष भारी-बोझ उठाना पड़ता है। जैसे भारी शारीरिक श्रम करने से सब लोग जी चुराते हैं वैसे ही तीक्ष्ण वेधक दृष्टि से सत्य के तथ्य तक पहुंचने का भारी मानसिक श्रम करने का लोगों को साहस नहीं होता। बहुतों में तो इस प्रकार की योग्यता भी नहीं होती, जिनमें होती है वे अपने परम प्रिय विषय को छोड़कर अन्य विषयों में गंभीर दृष्टि डालने का प्रयत्न नहीं करते। इस प्रकार आमतौर से देखा देखी नकल करने की परम्परा चल पड़ती है। यही परम्पराऐं कालान्तर में विश्वास बीज बन जाती हैं।

अपनी बात को ही प्रधान मानने और ठीक मानने का अर्थ और सबकी बातें झूठी मानना है। इस प्रकार का अहंकार अज्ञान का द्योतक है। इस असहिष्णुता से घृणा और विरोध बढ़ता है, सत्य की प्राप्ति नहीं होती। सत्य की प्राप्ति होनी, तभी संभव है जब हम अपनी भूलों, त्रुटियों और कमियों को निष्पक्ष भाव से देखें। अपने विश्वास बीजों का हमें निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए। जो हमारे शक्ति केन्द्र हैं, जिनकी प्रेरणा से हमारी जीवन दिशा संचालित होती हैं, उन विश्वास बीजों को हम निष्पक्ष भाव से, कठोर समालोचक की तरह भली प्रकार अपनी अन्तःभूमि का निरीक्षण करना चाहिए। जैसे चतुर किसान अपने खेत में उगे हुए झाड़ झंखाड़ों को अपना नहीं समझता, न उनसे अपनेपन का मोह करता है वरन् उन्हें निष्ठुरता पूर्वक उखाड़ कर फेंक देता है, उसी प्रकार हमें भी अपने कुसंस्कारों को बीन बीन कर उखाड़ देना चाहिए। अब तक हम यह मानते रहे हैं, इसे बदलने में हमारी हेटी होगी, ऐसी झिझक व्यर्थ है। आत्म निर्माण के लिए, सत्य की प्राप्ति के लिए, हमें अपना पुनर्निर्माण करना होगा। जैसे— शिर के बाल घोटमघोट कराके ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रवेश करता है वैसे ही अपनी समस्त पूर्वमान्यताओं को हटाकर नये सिरे से उचित, उपयोगी एवं सच्ची मान्यताओं को हृदय भूमि में प्रतिष्ठित करना चाहिए। तभी हम आत्मनिर्माण के महा मन्दिर में पदार्पण कर सकते हैं। पक्षपाती और भ्रान्त धारणाओं के दुराग्रही के लिए सत्य का दर्शन असंभव ही है।

दुःख और उनका कारण।

आकस्मिक सुख दुख हर व्यक्ति के जीवन में आया करते हैं। इनसे सुर मुनि, देव, दानव कोई नहीं बचता भगवान राम तक इस कर्म गति से छूट न सके। सूरदास ने ठीक कहा है—

कर्मगति टारी नांहि टरै।
गुरु वशिष्ठ पण्डित बड़ ज्ञानी,
रचि पचि लगन धरै।
पिता मरण और हरण सिया को,
बन में विपति परै॥

वशिष्ठ जैसे गुरु के होते हुए भी राम कर्म गति को टाल न सके। उन्हें भी पिता का मरण, सिया का हरण एवं बन की विपत्तियां सहन करनी पड़ीं। वह विपत्तियां कहीं से अकस्मात टूट पड़ती हैं, या ईश्वर नाराज होकर दुख दंड देता है, ऐसा समझना ठीक न होगा। सब प्रकार के दुख अपने ही बुलाने से आते हैं। रामायण का मत भी इस सम्बन्ध में वही है—

काहु न कोउ दुख सुख कर दाता।
निज-निज कर्म भोग सब भ्राता॥

दूसरा कोई भी प्राणी या पदार्थ किसीको दुख देने की शक्ति नहीं रखता। सब लोग अपने ही कर्मों का फल भोगते हैं और उसी भोग से रोते चिल्लाते रहते हैं। जीव की पूंछ से ऐसी कठोर व्यवस्था बँधी हुई है जो कर्मों का फल तैयार करती है। मछली पानी में तैरती है उसकी पूँछ पानी को काटती हुई पीछे-पीछे एक रेखा सी बनाती चलती है। सांप रेंगता जाता है और रेत पर उसकी लकीर बनती जाती है, जो काम हम करते हैं उनके संस्कार बनते जाते हैं। बुरे कर्मों के संस्कार, स्वयं बोई हुई कटीली झाड़ी की तरह अपने लिए ही दुखदायी बन जाते हैं।

दुख तीन प्रकार के होते हैं (१) दैविक (२) दैहिक (३) भौतिक। दैविक दुख वे कहे जाते हैं जो मन को होते हैं जैसे चिन्ता, आशंका क्रोध, अपमान, शत्रुता, विछोह, भय, शोक आदि। दैहिक दुख वे होते हैं जो शरीर को होते हैं जैसे रोग, चोट, आघात, विष आदि के प्रभाव से होने वाले कष्ट। भौतिक दुःख वे हैं जो अचानक अदृश्य प्रकार से आते हैं जैसे भूकम्प, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, महामारी, युद्ध आदि। इन्हीं तीन प्रकार के दुखों की वेदना से मनुष्यों को तड़पता हुआ देखा जाता है। यह तीनों दुख हमारे शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कर्मों के फल हैं। मानसिक पापों के परिणाम से दैविक दुख आते हैं, शारीरिक पापों के फलस्वरूप दैहिक और सामाजिक पापों के कारण भौतिक दुख उत्पन्न होते हैं।

दैविक दुख—मानसिक कष्ट, उत्पन्न होने का कारण वे मानसिक पाप हैं जो स्वेच्छा पूर्वक, तीव्र भावनाओं से प्रेरित होकर किये जाते हैं जैसे ईर्षा, कृतघ्नता, छल, दम्भ, घमण्ड, क्रूरता, स्वार्थपरता आदि इन कुविचारों के कारण जो वातावरण मस्तिष्क में घुटता रहता है उससे अन्तः चेतना पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार धुएँ के कारण दीवाल काली पड़ जाती है या तेल से भीगने पर कपड़ा गन्दा हो जाता है। आत्मा स्वाभावतः पवित्र है वह अपने ऊपर इन पाप मूलक कुविचारों प्रभावों को जमा हुआ नहीं रहने देना चाहती, वह इस फिक्र में रहती है कि किस प्रकार इस गन्दगी को साफ करूं? पेट में हानि कारक वस्तुएं जमा होजाने पर पेट उसे कै या दस्त के रूप में निकाल बाहर करता है। इसी प्रकार तीव्र इच्छा से, जानबूझ कर किये गए पापों को निकाल देने के लिए आत्मा आतुर हो उठती है। हम उसे जरा भी जान नहीं पाते किन्तु आत्मा भीतर ही भीतर उस पाप भार को हटाने के लिए अत्यन्त व्याकुल होजाती है। बाहरी मन-स्थूल बुद्धि को उस अदृश्य प्रक्रिया

का कुछ भी पता नहीं लगता, पर अन्तर्मन चुपके ही चुपके ऐसे अवसर एकत्रित करने में लगा रहता है जिससे वह भार हट जाय। अपमान, असफलता, विछोह, शोक, दुख आदि प्राप्त हो, ऐसे अवसरों को वह कहीं से एक न एक दिन, किसी प्रकार खींच ही लाता है ताकि उन दुर्वासनाओं का, पाप संस्कारों का—इन अप्रिय परिस्थितियों में समाधान हो जाय।

शरीर द्वारा किये हुए चोरी, डकैती, व्यभिचार, अपहरण हिंसा आदि में मन ही प्रमुख है, हत्या करने में हाथ का कोई स्वार्थ नहीं है, वरन् मन के आवेश की पूर्ति है, इसलिए इस प्रकार के कार्य जिनके करते समय इन्द्रियों को सुख न पहुंचता हो, मानसिक पाप कहलाते हैं, ऐसे पापों का फल मानसिक दुख होता है। स्त्री-पुत्र आदि प्रिय जनों की मृत्यु, धन नाश, लोक निन्दा, अपमान, पराजय, असफलता, दरिद्रता आदि मानसिक दुख हैं, उनसे मनुष्य की मानसिक वेदना उखड़ पड़ती है, शोक सन्ताप उत्पन्न होता है, दुखी होकर रोता चिल्लाता है, आंसू बहाता है, शिर धुनता है। इससे वैराग्य के भाव उत्पन्न होते हैं और भविष्य में अधर्म न करने एवं धर्म में प्रवृत्त रहने की प्रवृत्ति बढ़ती है। देखा गया है कि मरघट में स्वजनों की चिता रचते हुए ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं कि जीवन का सदुपयोग करना चाहिए। धन नाश होने पर मनुष्य भगवान को पुकारता है। पराजित और असफल व्यक्ति का घमण्ड चूर हो जाता है। नशा उतर जाने पर वह होश की बात करता है, मानसिक दुखों का एक मात्र उद्देश्य मनमें जमे हुए ईर्षा, कृतघ्नता, स्वार्थपरता, क्रूरता, निर्दयता, छल, दम्भ, घमण्ड की सफाई करना होता है। दुख इसीलिए आते हैं कि आत्मा के ऊपर जमा हुआ प्रारब्ध कर्मों का पाप संस्कार निकल जाय। पीड़ा और वेदना की धारा उन पूर्व कृत प्रारब्ध कर्मों के निकृष्ट संस्कारों को धोने के लिए प्रकट होती है।

दैविक—मानसिक कष्टों का कारण समझ लेने के उपरान्त अब दैहिक-शारीरिक-कष्टों का कारण समझना चाहिये। जन्मजात अपूर्णता एवं पैतृक रोगों का कारण पूर्व जन्म में उन अङ्गों का दुरुपयोग करना है। मरने के बाद सूक्ष्म शरीर रह जाता है। नवीन शरीर की रचना इस सूक्ष्म शरीर द्वारा होती है। इस जन्म में जिस अङ्ग का दुरुपयोग किया जा रहा है, वह अङ्ग सूक्ष्म शरीर में अत्यन्त निर्बल हो जाता है, जैसे कोई व्यक्ति अति मैथुन करता हो तो सूक्ष्म की वह इन्द्रिय निर्बल होने लगेगी, फल स्वरूप संभव है कि वह अगले जन्म में नपुंसक हो जाय। यह नपुंसकता केवल कठोर दंड नहीं है, वरन् सुधार का एक उत्तम तरीका भी है। कुछ समय तक सूक्ष्म शरीर के उस अङ्ग को विश्राम मिलने से आगे के लिए वह फिर सचेत और सक्षम हो जायगा। शरीर के अन्य अङ्गों का शारीरिक लाभ के लिए पाप पूर्ण, अमर्यादित, अपव्यय करने पर आगे के जन्म में वे अंग जन्म से ही निर्बल या नष्ट प्रायः होते हैं। शरीर और मन के सम्मिलित पापों के शोधन के लिए जन्म जात रोग मिलते हैं या बालक अंग-भंग उत्पन्न होते हैं। अंग भंग या निर्बल होने से उस अंग को अधिक काम नहीं करना पड़ता इसलिए सूक्ष्म शरीर का वह अंग विश्राम पाकर अगले जन्म के लिए फिर तरोताजा हो जाता है साथ ही मानसिक दुख मिलने से वह मन का पाप भार भी धुल जाता है।

मानसिक पाप भी जिस शारीरिक पाप के साथ घुला मिला होता है, वह यदि राजदंड, समाज दण्ड या प्रायश्चित्त द्वारा इस जन्म से शोधित न हुआ तो अगले जन्म के लिये जाता है। परन्तु यदि पाप केवल शारीरिक है या उसमें मानसिक पाप का मिश्रण अल्प मात्रा में है, तो उसका शोधन शीघ्र ही शारीरिक प्रकृति द्वारा हो जाता है, जैसे नशा किया—उन्माद आया। विष खाया-मृत्यु हुई। आहार विहार में

गड़बड़ी की—बीमार पड़े। इस तरह शरीर अपने साधारण दोषों की सफाई जल्दी २ कर लेता है और इस जन्म का भुगतान इसी जन्म में कर जाता है। परन्तु गम्भीर शारीरिक दुर्गुण, जिनमें मानसिक जुड़ाव भी होता है, अगले जन्म में फल प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म शरीर के साथ जाते हैं।

भौतिक कष्टों के कारण हमारे सामाजिक पाप हैं। सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक ही सूत्र में बँधी हुई है। विश्व व्यापी जीव तत्व एक है। आत्मा सर्व व्यापी है। जैसे एक स्थान पर यज्ञ करने से अन्य स्थानों का भी वायुमंडल शुद्ध होता है और एक स्थान पर दुर्गन्ध फैलने से उसका प्रभाव अन्य स्थानों पर भी पड़ता है। इसी प्रकार एक मनुष्य के कुत्सित कर्मों के लिए दूसरा भी जिम्मेदार है। एक दुष्ट व्यक्ति अपने माता पिता को लज्जित करता है, अपने घर कुटुम्ब को शर्मिन्दा करता है। वे इसलिए शर्मिन्दा होते हैं कि उस व्यक्ति के कामों से उनका कर्तव्य भी बँधा हुआ है। अपने पुत्र, कुटुम्बी, या घर वाले को सुशिक्षित, सदाचारी न बना कर दुष्ट क्यों हो जाने दिया? इसकी आध्यात्मिक जिम्मेदारी कुटुम्बियों की भी है। कानून द्वारा अपराधी को ही सजा मिलेगी, परन्तु कुटुम्बियों की आत्मा स्वयमेव शर्मिन्दा होगी, क्योंकि उनकी गुप्त शक्ति यह स्वीकार करती है कि हम भी किसी हद तक इस मामले में अपराधी हैं। सारा मनुष्य समाज एक सूत्र में बँधा होने के कारण आपस में एक दूसरे की हीनता के लिए जिम्मेदार है। पड़ोसी का घर जलता रहे और दूसरा पड़ोसी खड़ा २ तमाशा देखे, तो कुछ देर बाद उसका भी घर जल सकता है। मुहल्ले के एक घर में हैजा फैले और दूसरे लोग उसे रोकने की चिंता न करें, तो उन्हें भी हैजा का शिकार होना पड़ेगा। कोई व्यक्ति किसी की चोरी, बलात्कार, हत्या, लूट आदि होती हुई देखता रहे और सामर्थ्य होते हुए भी उसे रोकने का प्रयत्न न करे, तो समाज उससे घृणा करेगा एवं कानून के अनुसार वह भी दंडनीय समझा जायगा।

ईश्वरीय नियम है कि हर मनुष्य स्वयं सदाचारी जीवन बितावे और दूसरों को अनीति पर न चलने देने के लिये भरसक प्रयत्न करे। यदि कोई देश या जाति अपने तुच्छ स्वार्थों में संलग्न होकर दूसरों के कुकर्मों को रोकने और सदाचार बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करती तो उसे भी दूसरों का पाप लगता है। इसी स्वार्थपरता के सामूहिक पाप से सामूहिक दण्ड मिलता है। भूकम्प, अति वृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी, महायुद्ध के मूल कारण इस प्रकार के ही सामूहिक दुष्कर्म होते हैं जिनमें स्वार्थ परता को प्रधानता दी जाती है और परोपकार की उपेक्षा की जाती है।

देखा जाता है कि अन्याय करने वाले अमीरों की अपेक्षा मूक पशु की तरह जीवन बिताने वाले भोले भाले लोगों पर दैवी प्रकोप अधिक होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि का कष्ट गरीब किसानों को ही अधिक सहन करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि अन्याय करने वाले से अन्याय सहने वाला अधिक बड़ा पापी होता है। कहते हैं कि "बुजदिल जालिम का बाप होता है।" कायरता में यह गुण है कि वह अपने ऊपर जुल्म करने के लिये किसी न किसी को न्योत ही बुलाता है। भेड़ की ऊन एक गड़रिया छोड़ देगा तो दूसरा कोई न कोई उसे काट लेगा। कायरता, कमजोरी, अविद्या स्वयं बड़े भारी पातक हैं। ऐसे पातकियों पर यदि भौतिक कोप अधिक हो तो कुछ आश्चर्य नहीं? सम्भवतः उनकी कायरता को दूर करने एवं स्वाभाविक सतेजता जगा कर निष्पाप बना देने के लिये अदृश्य सत्ता द्वारा यह घटनाएं उपस्थित होती हैं। यह भौतिक दुर्घटनायें सृष्टि के दोष नहीं हैं वरन् अपने ही दोष हैं। अग्नि में तपा कर सोने की तरह हमें शुद्ध करने के लिये यह कष्ट बार २ कृपा पूर्वक आया करते हैं।

सत्य की महिमा।

(पं० श्यामलाल गुप्ता, 'प्रेम' भरथना)

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्ययोनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतं सत्यनेत्रं,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नः ॥
(भागवत पूर्वार्ध देवस्तुति)

हे भगवन्! सत्य ही आपका व्रत एवं नियम है तथा आप सत्य स्वरूप हैं तथा तीनों कालों में आप सत्य रूप से स्थित रहते हैं। सत्य से आप की उत्पत्ति है तथा आप सत्य ही में विराजमान हैं सत्य स्वरूप आप सत्य के नेत्र से सर्व प्राणि वर्गों की रक्षा करते हैं अतः मैं आप की शरण हूं।

सत्यमूलं जगत्सर्वं लोकाः सर्वे प्रतिष्ठिताः।
सत्येन सिद्धिं प्राप्तोहिं ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥
(वाल्मीकि अयो०का० सर्ग १३९ श्लो० ५०)

सम्पूर्ण प्राणिमात्र का मूल कारण सत्य है तथा सम्पूर्ण लोक सत्य ही में स्थित हैं। सत्य ही के धारण करने से ऋषि मुनि व ब्रह्मवेत्ता लोग सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
(तैत्तिरियोपनिषद्)

वह अनन्त ब्रह्म सत्य तथा ज्ञान स्वरूप है।

सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म।
(उपनिषद्)

वह सर्व व्यापक ब्रह्म, सत्य व ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप वाला है।

दिव्योह्यमूर्त्तो पुरुषा स बाह्याभ्यन्तरोह्यजा।
अप्राणो ह्यमनाशुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥
(अथर्व० द्वि० मु० प्र० ख० २)

निश्चय ही वह सत्य ब्रह्म दीप्ति वाला है अमूर्त है सर्व व्यापक है वह बाहर और प्रत्येक पदार्थ के मध्य में है। इसलिये निश्चय करके उत्पत्ति से रहित तथा मन से रहित है अतः प्रकाश स्वरूप है पर अक्षर और प्रकृति से भी परे है।

यदर्चिं मद्यदणुभ्यो अणु,
च अस्मिन् लोका निहता लोकिनश्च
तदेतदक्षर ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मना,
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वोद्धव्यं सौम्य विद्धि।
(अथ० द्वि० मु० द्वि० ख० २)

वह सत्य रूप ब्रह्म प्रकाश वाला है और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है जिनमें सम्पूर्ण लोक तथा उनमें निवास करने वाले जीव स्थित हैं। वही सत्य रूप अक्षर ईश है। वह सबका प्राण-शक्ति देने वाला वही वाणी तथा मन का प्रेरक है, वह सत्य है मृत्यु से रहित है वह जानने योग्य है। अतः हे सौम्य? तू उस सत्य को जान, सत्य ही सबका मूल कारण है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुः ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥
(अथ० द्वि० मु० प्र० ख० ३)

उस सत्य ब्रह्म से प्राण मन व सर्व इन्द्रियां और उसके विषय आकाश वायु अग्नि जल व विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न हुई है।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्ता पावकाद्विस्फुलिङ्गा
सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपा। तथा अक्षरात
विविधा सोम्यगावः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति
(अथ० द्वि० मु० प्र० टक ॥१॥)

यह बात प्रसिद्ध है कि वह अक्षर ब्रह्म (सत्य है) सो जैसे प्रदीप्त हुई अग्नि से उसके समान रूप वाले सहस्रों विस्फुलिङ्ग (चिनगारियां) उत्पन्न होती हैं। वैसे ही हे सौम्य? सत्य अक्षर ब्रह्म से बहुत प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में लय होते हैं।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा॥

एक ही अकेला शूरवीर पुरुष सारी पृथ्वी को पांव तले दबाकर वश में कर लेता है जैसे कि अकेला सूर्य सारे जगत को प्रकाशित कर देता है इसलिये मनुष्यों का जन्म धन्य है।

सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिन्सा,
दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्।
हितं नराणां च भवीहयेन,
तदेव सत्यं न तथान्यथैव॥
(देवी भागवत अ० ३ श्लो० ३६)

वह सत्य सत्य नहीं है जो कि हिन्सा से युक्त हो, वह (अनृत) झूंठ दया से युक्त होता हुआ सत्य ही है। पुरुष का कल्याणकारी एक सत्य के सिवा कुछ नहीं।

तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यः
पश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संन्ततान।
तान्यचरितनियतं सत्यकामा एव पंथा सुकृतस्य लोके।
(अथ० उप० प्र० खं० मु० द्वि० बल्ली १)

यह बात सत्य है कि मन्त्रों में जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को वेदवेत्ता लोग देखते थे वह त्रेता में अनेक प्रकार विस्तृत थे। उन कर्मों से हे सत्य कामनाओं वाले लोगो! नियम पूर्वक सत्य का आचरण करो। क्योंकि यही तुम्हारी इस मानव देह के पुण्य रूपी कर्म मार्ग है और सत्य ही से सर्व लोकों में सर्व कार्य सिद्ध होते हैं।

अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलयाधृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥
(महा० आ० ए० अ० ७४ श्लो० १०६)

हजार अश्वमेध करने का जो फल तथा एक सत्य बोलने का जो फल है दोनों को तुला (तराजू) पर रख कर तौलने से सत्य ही श्रेष्ठ निकलेगा।

यस्यवाङ्मनसीशुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
सवै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥
(मनु० अ० २ श्लोक १६०)

जो पुरुष सर्वदा मनवाणी के शुद्ध भाव से सदा सत्य का आचरण करता है वह सम्पूर्ण लोकों के सुख का भागी बनता है। तथा सम्पूर्ण वेदान्त के रहस्य के फल का भागी होता है।

सत्यरूपं परंब्रह्म सत्यं हि परमं तपः।
सत्यमूला क्रिया सर्वाः सत्यात्परतरं नहि॥
(शिव० पु० उमा० सं० ५ अ० १२ श्लो० ३)

वह सत्य का पालन कर्त्ता परमात्मा सत्य रूप है तथा सत्य ही भाषण करना श्रेष्ठ तपस्या है। सत्य ही सबका मूल कारण है। सत्य से बढ़ कर और कुछ नहीं है।

ये धर्मान् शब्दान् गृणात्युपाधिशतसः गुरुः।
सा पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानुवच्छेदात्॥
(योग सूत्र समाधिपादे सूत्र २६)

जो (सत्य) धर्म प्रतिपादक सृष्टि के आदि में अंगिरादि ऋषियों का गुरु था। वही सृष्टि के अन्त तक सबको यथोचित कर्मानुसार समय २ पर बुद्धि देता है इसलिये वही सब विश्व का सद्गुरु है।

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव।
न पावनतमं किञ्चित्सत्यादध्यगमं क्वचित्॥
(महाभा० शांति० पर्व० अ० २६६ श्लो० ३१)

सत्य ही स्वर्ग यानी ऊंचे उठने की सीढ़ी है तथा सत्य ही इस संसार रूपी भवसागर की नौका है। सत्य से बढ़ कर पवित्र और कुछ नहीं सत्य को धारण करने वाला पुरुष सर्वत्र गमन कर सकता है।

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दान शूरैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥
(स्कं० मण्डू० पु० मोह० खं० १ कौस्तुभ० खं० २ अ० २ श्लो० ७१)

गौवों से ब्राह्मणों से वेदों के द्वारा सती (पतिव्रता स्त्रियों) द्वारा तथा सत्य भाषण करने वाले पुरुषों से तथा (अलुब्ध) यानी दूसरों को पीड़ा न देने वाले व दान में शूर अर्थात् परोपकारी पुरुषों से यह पृथ्वी हमेशा स्थिर रहती है अर्थात् येही पृथ्वी को धारण करते हैं।

कर्त्तव्य और अधिकार।

हर जगह अधिकार की पुकार है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मुझे अमुक मिले, अमुक मिले और वह इस अमुक-अमुक में ही लगा रहता है लेकिन जो व्यक्ति दूसरों से किसी चीज की अपेक्षा रखता है उसे भी दूसरों को कुछ देना है इसकी न उसे परवाह रहती है और न उसके प्रति निष्ठा। वह लेना ही लेना चाहता है, देने के लिए उसके हृदय में किसी प्रकार की गुंजाइश नहीं है। वह भूल जाता है कि लेने के साथ देने की चर्चा भी होती है। देना और पावना साथ-साथ चलता है। इसलिए जहां अधिकार की मांग होती है वहां कर्त्तव्य की पुकार होना भी स्वाभाविक है।

अधिकार मांगने के पूर्व हमारा अपना जो कर्त्तव्य है उसे जिस समय स्मरण रखते हैं और निष्ठा पूर्वक उसका पालन करते हैं उसी समय हमें बिना संघर्ष किये अपने आप अधिकारों की प्राप्ति हो जाती है।

अधिकार तथा कर्त्तव्य की मांग के आधार पर ही व्यक्ति के साथ समाज का बन्धन है। समाज तो अलग है और थोड़ा बड़ा है लेकिन व्यक्ति के साथ उसके परिवार का जो बन्धन है उसमें भी कर्त्तव्य और अधिकार का समावेश है। जिस समय इन दोनों में से कोई एक नहीं रहता उस समय व्यवस्था बिगड़ जाती है और विद्रोह उठ खड़ा होता है। इसलिए इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का स्मरण रखे। और इस कर्त्तव्य की बात को बार बार स्मरण कराने के लिए धर्म की सृष्टि की गई है। असल में देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि धर्म और कर्त्तव्य में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार सन्तान का पालन करना उनके मातापिता का कर्त्तव्य है उसी प्रकार वे अपनी सन्तान से उनके प्रति वफादार रहने की अपेक्षा रख सकते हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति में इस प्रकार की भावना रखकर चलना ठीक नहीं माना जाता और हमारा कर्त्तव्य है इसलिए ऐसा कर रहे हैं इस भावना को ही प्रमुखता दी जाती है। फिर भी कर्त्तव्य करने पर उन्हें अधिकार मिल ही जाते हैं यह बात सर्व सम्मत है।

आजकल जितनी विषमताऐं चल रहीं हैं उनमें कर्त्तव्य हीनता ही मुख्य कारण है। मजदूरों से सात या आठ घण्टे काम लेना अधिकार है लेकिन उनकी सुखसुविधा का ध्यान रखना कर्त्तव्य। हम कर्त्तव्य को जब भूल जाते हैं तब मजदूरों में विद्रोह की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक रहता है। इसी प्रकार हमारी पत्नी ऐसा करे, वैसा करे, उससे ऐसा कराना, वैसा कराना हमारा अधिकार है यह तो हमें स्मरण रहे लेकिन उसे सन्तुष्ट करना, उसे योग्य बनाना, उसको उचित संरक्षण देना जो हमारा कर्त्तव्य है उसे हम भूल जायँ तो क्या हमारा दाम्पत्य जीवन सुखी रह सकता है? जिस प्रकार कर्त्तव्य भूलकर हम कलह की सृष्टि करते हैं और अपने तथा दूसरे के लिए अशान्ति का बीज बोते हैं, उसी प्रकार समाज देश तथा विश्व के प्रति अपने अधिकार का मांग रखकर और उसके प्रति अपने कर्त्तव्य को भूलकर हम सामूहिक अशान्ति की स्थापना करते हैं। परिवार के साथ हमारा नित्य का सम्बन्ध है और उस पर किये गये कार्यों का प्रभाव तत्काल हम पर पड़ता है उसी प्रकार समाज, राष्ट्र एवं विश्व के साथ हमारे व्यवहारिक जीवन का नित्य का सम्बन्ध रहते हुए भी हम पर उसके साथ किये गये कार्य का तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ता। धीरे २ जब उनका सामूहिक रूप बन जाता है तब वह ऐसा प्रभाव शाली हो जाता है कि हमारी सत्ता

स्थापित रहने में भी बाधक लगने लगता है। आज की समस्त विषमतायें, अशान्तियां, युद्ध, हिंसा ये सबके सब मानव के प्रति मानव का जो कर्त्तव्य है उसकी उपेक्षा करने का ही परिणाम है, प्रत्येक व्यक्ति उसका जिम्मेदार है, और आज या कल किसी न किसी रूप में प्रत्येक मानव पर उसका प्रभाव पड़ रहा है। इसीलिए यह आवश्यक है मनुष्य को अपनी सुख शान्ति की रक्षा के लिए भी तात्कालिक अधिकार के प्रलोभन में न फँसकर स्थायी सुख शान्ति के लिए कर्त्तव्य को विस्मरण नहीं करना चाहिए। कर्त्तव्य का एक मात्र यही आदेश है कि हम दूसरे से जो लेना चाहते हैं उसे अपने पास से देने की गुंजाइश प्रत्येक मानव को रखना चाहिए और जब तक यह गुंजाइश उसमें न प्रकट हो तब तक अपनी मांग को जोरदार नहीं बनाना चाहिए। लेकिन इससे भी अधिक श्रेयस्कर यह है कि कर्त्तव्य की बात स्मरण रखना चाहिए, कर्त्तव्य बुद्धि से प्रेरित होकर कार्य करना चाहिए लेकिन उसके मूल में प्रतिदान की भावना नहीं रखनी चाहिए। यह निश्चित है कि यदि हम अच्छा करेंगे तो प्रतिफल स्वरूप हमें अपने आप ही अच्छा मिलेगा।

अच्छी आदतें कैसे डाली जाँय?

बिना मनोयोग के कोई काम नहीं होता है। मनके साथ काम का सम्बन्ध होते ही चित्त पर संस्कार पड़ना आरंभ होजाते हैं और ये संस्कार ही आदत का रूप ग्रहण कर लेते हैं। मन के साथ काम के सम्बन्ध में जितनी शिथिलता होती है, आदतों में भी उतनी ही शिथिलता पाई जाती है। यों शिथिलता स्वयं एक आदत है और मन की अस्थिरता का परिचय देती है।

असल में मन चंचल है। इसलिए मानव की आदत में चंचलता का समावेश प्रकृति से ही मिला होता है। लेकिन दृढ़ता पूर्वक प्रयत्न करने पर उसकी चंचलता को स्थिरता में बदला जा सकता है। इसलिए कैसी भी आदत क्यों न डालनी हो, मन की चंचलता के रोक थाम की अत्यन्त आवश्यकता है। और इसका मूलभूत उपाय है—निश्चय की दृढ़ता। निश्चय में जितनी दृढ़ता होगी, मन की चंचलता में उतनी ही कमी। और यह दृढ़ता ही सफलता की जननी है।

जिस काम को आरम्भ करो, जब तक उसका अन्त न हो जाय उसे करते ही जाओ। कार्य करने की यह पद्धति चंचलता को भगाकर ही रहती है। कुछ समय तक न उकताने वाली पद्धति को अपना लेने पर फिर तो मनोयोग पूर्वक कार्य में लगजाने की आदत होजाती है। तब मन अपनी आदत को छोड़ देता है अथवा बार बार भिन्न भिन्न चीजों पर वृत्तियां जाने की अपेक्षा एक पर ही उसकी प्राप्ति तक दृढ़ रहती है।

मन निरन्तर नवीनता की खोज करता है। यह नवीनता प्रत्येक कार्य में पाई जाती है कार्य की गति जैसे जैसे सफलता की ओर होती है, उसमें से अनेक नवीनताओं के दर्शन होने आरंभ होते हैं। मन की स्थिति उस कार्य पर रहे—उसे छोड़कर दूसरे को ग्रहण करने के लिए नहीं—बल्कि उसी कार्य में अनेक नवीनताओं को देखने के लिए। मन की यह गति जितनी विशाल, जितनी सूक्ष्मदर्शिनी बनेगी, मन की एक काम छोड़कर दूसरे काम को अपनाने की वृत्ति में उतनी ही कमी आवेगी, दृढ़ता उतनी ही अधिक होगी।

आदत डालने के लिए निश्चय एवं दृढ़ संकल्प

की आवश्यकता होती है। निष्ठा और दृढ़ संकल्प के लिए बुद्धि की तैयारी चाहिए। बुद्धि की मन पर अंकुश रखने की तैयारी हो तो संकल्प में भी दृढ़ता आती है और निष्ठा में भी। इसलिए ऐसे कार्यों को छोड़ने के लिए सतर्क रहना चाहिए जो बुद्धि को मन का दास बनाने वाले हों। बुद्धि का दासत्व स्थिरता का दुश्मन है, क्योंकि जब वह चंचल मन की आज्ञा कारिणी या वशवर्तिनि होगी तो निश्चित रूप से वह चंचल हो जायगी।

मन और बुद्धि पर अंकुश रखकर योग्य बनाने के लिए जीवन को प्रयोगावस्था में डालने की आवश्यकता है। इसके लिए मनुष्य को किसी भी निर्णीत कार्यक्रम के अनुसार चलने का निश्चय करना पड़ता है। कल जो करना है उसके लिए आज ही कार्यक्रम बना लेना चाहिए। साथ ही सोने के पूर्व उस कार्यक्रम पर दृढ़ रहने का निश्चय कर लेना चाहिए।

जो लोग रात को अधिक देर तक जागते रहते हैं उनके शरीर में आलस्य भरा रहता है इसलिए शरीर का यह आलसीपन कार्यक्रम को पूरा करने में सहायक नहीं होता बल्कि बाधक होता है। इसलिए शरीर का निरालस रहना भी कार्य साधन का एक अंग है। रात में जल्दी सोना और सबेरे जल्दी उठना आलस्य को जमने नहीं देता। साथ ही बुद्धि को सूक्ष्म ग्राहिणी बनाता है जिस बुद्धि पर कि जीवन का सारा दारोमदार है।

'बेकार न बैठो' एक ऐसा सबक है जो मनुष्य को आलसी बनने से रोकता है। आलसी बनना मन को चंचल बनाना है और काम करना मन को एकाग्र करने का साधन है। काम करने के दो प्रकार होते हैं। पहला प्रकार है नियमित काम करना और दूसरा प्रकार है अनियमित काम करना। नियमित काम करने से मन की चंचलता घटती है पर अनियमित काम करने की ओर जाना ही चंचलता का चिन्ह माना जाता है। इसलिए यह पहले ही लिखा जा चुका है कि हमें प्रति दिन सोने के पूर्व दूसरे दिन कार्यक्रम को निश्चित कर लेना चाहिए। य[illegible] ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि निय[illegible] रूप तथा व्यवस्थित ढंग से काम करने के [illegible] कार्यक्रम की आवश्यकता है, लेकिन इसका [illegible] कार्यक्रम के वशवर्ती होकर काम करना नहीं [illegible] किसी चीज का दास होना बुरा है, उस [illegible] नियन्त्रण करना ही लक्ष्य है। इसलिए कार्य[illegible] नियन्त्रण स्थापन करने का साधन है [illegible] कि साध्य। कार्यक्रम बना लेने के अन[illegible] अकस्मात दूसरे दिन किसी अन्य कार्य करने [illegible] आवश्यकता हो जावे तो कार्यक्रम में रद्दोब[illegible] कर देना बुरा नहीं है। लेकिन मन की चंच[illegible] के कारण या अपने आलस्य अथवा प्रमाद [illegible] कारण कार्य को न करना एक प्रकार की भया[illegible] आदत को जन्म देता है जो कि मनुष्य [illegible] सफलता से दूर निराशा के खाई खंदकों में प[illegible] देती है, इसलिए आरंभ से ही सावधान र[illegible] चाहिए और बिना किसी आवश्यक प्रयोज[illegible] उपस्थित हुए निश्चित कार्यक्रम एवं नि[illegible] समय की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

जो कार्य जितने समय में सुचारू रूप से हो सके उसे उतने ही समय में पूरा करना [illegible] नहीं है। जल्दी करके कार्य को बिगाड़ देने [illegible] कार्यक्रम की पूर्ति नहीं होती इसलिए कार्य[illegible] सुन्दरता की रक्षा करने की ओर भी [illegible] रखने की आवश्यकता है। जिसके सामने सौ[illegible] का लक्ष्य रहता है वह जल्दीबाजी से बचा र[illegible] है और काम को बिगड़ने नहीं देता।

प्रायः देखा जाता है कि जल्दीबाजी [illegible] की बचत नहीं करती बल्कि कार्यसिद्धि के [illegible] को और बढ़ा देती है। यह भी मन की चंच[illegible] के कारण होता है। जिस समय मनोनिग्रह [illegible] अपना लिया जाता है उस समय-जल्दीबाज[illegible] वृत्ति स्वयं ही हट जाती है। इसके अति[illegible] व्यवहार में शालीनता आती है, शिष्टता [illegible]

है, सौम्यता आती है जो कि मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से चमका देती है। और उसका प्रभाव मनुष्य के अन्तःकरण पर ही नहीं होता बाहरी आचरण खान-पान पहनाव उढ़ाव पर भी होता है। सफलता पाने की कुंजी आदतों का निर्माण है, इसलिए अपनी आदतों पर ठीक रूप से निगरानी रखने की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य व्रत—

(पं० खेमराज शर्मा)

साधारणतः मनुष्यों में दो वृत्तियां पाई जाती हैं। एक वृत्तिका नाम है भोगवृत्ति और दूसरी का नाम है यज्ञवृत्ति। यद्यपि दोनों का कार्य क्षेत्र एक ही है लेकिन वृत्तिभेद होने से एक ही कार्य दो दिशाओं में गति शील होता है।

आर्य ऋषियों ने इन वृत्तियों की दिशाओं को मोड़ने के लिए ही आश्रम धर्म का आविष्कार किया था, जीव का जैसे ही स्थूल जगत में अवतरण होता है वैसे ही उसमें भोग वृत्ति की प्रधानता उत्पन्न होती है। ज्ञान का अभाव ही इसका कारण होता है। यों ज्ञान का अभाव तो नहीं होता पर ज्ञान मूर्च्छित रहता है इसलिए अभाव जैसा दिखाई देता है। और इसीलिए जीवन की आरंभिक अवस्था में मानव के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की जाती है।

ब्रह्म में चरण करना, ब्रह्म में भ्रमण करना यही ब्रह्मचर्य का तात्त्विक अर्थ है। जीव स्वयं शुद्ध ब्रह्म है इसलिए जो अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानता, निरन्तर इसी में भ्रमण करता और उसकी महानतम शक्तियों से परिचित रहता है, वास्तव में देखा जाय तो वही ब्रह्मचारी है।

बाहरी रूप में जो स्थूल रूप से दिखाई देता है वह ब्रह्म नहीं है, बल्कि ब्रह्म ने अपने अवतरण के लिए इस स्थूल खोल का निर्माण किया है। इसलिए स्थूल तो एक मात्र खोल है-आवरण है, ब्रह्म नहीं इस बात का बोध होते ही मनुष्य ब्रह्म में प्रविष्ट होने के लिए व्रत ग्रहण करता है। यहीं से ब्रह्मचर्याश्रम का आरंभ होता है।

जिस प्रकार इस स्थूल खोल में ब्रह्म का जीव रूप से निवास होता है उसी प्रकार अन्नादि स्थूल खोल में उसके सूक्ष्म जीव रूप से वीर्य का निवास होता है। प्राणिदेह में वह वीर्य रूप से ब्रह्माण्ड में स्थित रहता है, उसकी सदैव स्थिति बनी रहे यह स्थूलचर्या पर निर्भर करती है। जिस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान अबाध होना, निरन्तर होना ब्रह्मचर्याश्रमके लिए आवश्यक है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में अथवा शिर में वीर्य रहे, स्खलित न हो, च्युत न हो, यह भी ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा ली जाती है।

जिन लोगों की भोगवृत्ति होती है, उनको ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, इसलिए स्थूल के प्रति उनकी जबरदस्त आसक्ति होती है और वे उसी में अपने वीर्य को नष्ट कर डालते हैं। पर जिनकी यज्ञवृत्ति होती है वे वीर्य का ब्रह्म में यज्ञ करते हैं इसलिए वीर्य नित्य ही समृद्ध होता हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म होता जाता है। जैसे जैसे उसकी शक्ति बढ़ती जाती है, मनुष्य बल और बुद्धि का खजाना होता जाता है।

ब्रह्मचर्याश्रम का जब से ह्रास हुआ है तब से बल बुद्धि का ह्रास निरन्तर ही देखने में आरहा है। भोगवृत्ति में आसक्त प्राणी निरन्तर शक्ति हीन होरहा है। अकाल में ही काल खा जाने के लिए अपना मुँह फैलाये बैठा है। रोग और शोक की सृष्टि नित्य दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। भोग का यह रोग कम न होकर निरन्तर प्रगति शील है। ऐसी अवस्था में फिर से ब्रह्मचर्य व्रत और ब्रह्मचर्याश्रमके उद्धार की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य व्रत के लिए इन्द्रिय संयम नितान्त आवश्यक है। कार्य की परिपक्वा अवस्था तक उसे सतेज बनाया जावे १८ वर्ष से पूर्व विवाह न हो, विवाह होने के बाद भी एकनारी व्रत धारण किया जाय। एक नारी में भी भोग वृत्ति को तृप्त करने का भावना न हो, इसमें भी यज्ञ की भावना रहे, वंश संचालन—सन्तानोत्पादन की दृष्टि के अतिरिक्त स्त्री सम्पर्क की भावना भी जागृत न हो। सन्तानोत्पादन के बाद स्त्री का भोग सम्बन्ध समाप्त होजावे, और तब ब्रह्म की प्राप्ति को, जो कि मानव जीवन का परमलक्ष है, परमलक्ष बनाकर जीवन का संचालन किया जावे। जिस दिन इस व्रत के व्रती मानव इस भूमण्डल को अपना कार्य क्षेत्र बनायेंगे, भारत आदि काल के भारत की तरह तेजस्वी, बल, बुद्धि सम्पन्न हो जायेगा।

पशुओं से भी शिक्षा मिलती है।

(श्री द्वारिकाप्रसाद कटारे—कानपुर)

—+—

एक दिन महाराजा चन्द्र गुप्त के साथ आचार्य प्रवर चाणक्य की चर्चा होरही थी। आचार्य चाणक्य कह रहे थे कि पशुओं में भी बड़े बड़े गुण पाये जाते हैं, जो आंखें खुली रख कर इस विश्व पाठशाला में उनसे भी शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे विजयी होते हैं।

महाराजा चन्द्रगुप्त ने पूछा—आर्य,—किस २ पशु में कौन कौन गुण हैं?

चाणक्य ने कहा—सिंह को ही देखिये। चाहे छोटा काम हो चाहे बड़ा, वह प्रत्येक कार्य को धैर्य एवं आत्मविश्वास के साथ आरंभ करता है और उसकी पूर्ति में अपनी सारी शक्ति लगा देता है।

बगला—बड़ा एकाग्रता प्रेमी है। वह अपनी शिकार प्राप्त करने के लिए कितनी तन्मयता का उपयोग करता है। किस तरह एक पांव पर खड़ा रहता है, और शिकार देखते ही कितनी तत्परता से उसे गटक लेता है।

मुर्गा—युद्ध प्रिय पक्षी है, विपक्षी से लड़ने के लिए हमेशा तैयार रहता है, ठीक समय पर जगता है अपने भाइयों को उनका हिस्सा देकर उसके बाद स्वयं लेता है और स्वयं उद्योग करके अपना भोजन जुटाता है।

कौआ—हमेशा सावधान रहता है, अपने जोड़े को साथ रखता है, समय-समय पर भोजन सामग्री इकट्ठी करके रखता है, हमेशा सुरक्षित रहने की कोशिश करता है और किसी पर विश्वास नहीं करता।

कुत्ता—बहुत खाने की शक्ति रखते हुए भी थोड़े में ही सन्तुष्ट हो जाता है, गहरी नींद में सोते रहने पर भी झट जग जाता है।

स्वामि भक्ति में उसके मुकाबले कोई ठहर नहीं सकता, और वीरता में भी वह किसी से दबता नहीं है।

गधा—धैर्य की मूर्ति है, थक जायगा फिर भी धैर्यता पूर्वक बोझा ढोता रहेगा, सर्दी गर्मी समान रूप से सहलेगा और खाने के लिए जो कुछ मिल जायगा उसीमें सन्तुष्ट रहेगा।

महाराज, यदि इन बीस गुणों को ही मनुष्य अपने आचरण में ले आवे तो दुःख उसके पास भी नहीं फटक सकता।

राजा आचार्य की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। और उसने स्वीकार किया कि जो गुण पशुओं ने दृढ़ता से धारण कर रखे हैं उन्हें यदि मनुष्य ग्रहण करे तो उसका कल्याण हो सकता है।

भगवान को किससे देखें ?

(श्री रूपलाल जी चोरल)

भगवान हैं और दिखाई देते हैं यह एक सर्व मान्य बात है। अनेकों ने भगवान के दर्शन किये हैं इसकी गाथायें भी इतिहास और पुराणों द्वारा जानी जा सकती हैं लेकिन अभी तक हमें ऐसे किसी भी व्यक्ति के दर्शन नहीं हुए जो यह बतला सके कि हमने भगवान् को देखा है।

सांसारिक वस्तुओं के साथ सम्पर्क स्थापित करने का साधन हमारी ज्ञानेन्द्रियां हैं—आंख, कान, नाक, जिह्वा, तथा त्वचा द्वारा हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह भौतिक ही होती है इस ज्ञान का सम्बन्ध परमात्मा के साथ नहीं रहता। जब कि कहा यह जाता है कि भगवान हर जगह हैं, हर वस्तु में हैं तब फिर जिन चीजों का हम अपने भौतिक उपकरणों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं क्यों नहीं उनके द्वारा भगवान का साक्षात्कार कर पाते। इसका अर्थ है भगवान को देखने की जो विशिष्ट इन्द्रिय है वह अभी तक मूर्छित पड़ी हुई है और लोगों को उसको जाग्रत करने का अनुभव नहीं है। अथवा उसकी उन्हें जानकारी नहीं है।

यह सभी जानते हैं कि आंख से रूप, कान से शब्द, त्वक् से स्पर्श, नासिका से गन्ध एवं जिह्वा से स्वाद का साक्षात्कार होता है। पर भगवान रूप रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श से अतीत हैं इसलिए ये इन्द्रियायें भगवान का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। इन्द्रियों से अतीत मन-बुद्धि चित्त और अहंकार हैं, पर इनसे भी भगवान को जाना या समझा नहीं जासकता। तब फिर कौन सा तत्त्व ऐसा है जिसके द्वारा भगवान को समझा जा सकता है।

यह आत्मा जो कि जीवरूप से इस शरीर में प्रविष्ट है, परमात्मा का ही तो अंश है। कर्म और संस्कारों के कारण वासना द्वारा इस पर शरीर रूपी पंच भौतिक खोल चढ़ा हुआ है। यही कारण है कि उसकी अपरिमेय शक्तियां, परिमित होगई हैं। और परिमित शक्ति होने के कारण अपरिमेय शक्तिओं को समझना तथा जानना किसी भी रूप में संभव नहीं होसकता, इसलिए अपरिमेय को जानने के लिए परिमेय बनी रहने वाली अपरिमेय शक्ति को बन्धन हीन करना पड़ता है।

असीम को सीमित करने का कारण वासना है। वासना कर्म समूह से आरंभ होती है। कर्म जहां बन्धन के कारण हैं वहां वे ही बन्धन मुक्त भी करते हैं। इसलिए जो आत्मा जीवात्मा की शक्ल लेकर सीमित होगया है और जिसके द्वारा असीम ससीम होगया है वह एक मात्र वासना जाल है। कर्म शुद्धि से वासना जाल छिन्न भिन्न किया जाता है। और कर्म शुद्धि के लिए बुद्धि शुद्धि, मन शुद्धि तथा शरीर शुद्धि की आवश्यकता होती है। योग दर्शन के यम-नियम वासनाओं से मुक्ति दिलाने के लिए तैयारी कराते हैं।

वासना मुक्त जीवात्मा परमात्मा को देखने की शक्ति पाता है। इसलिए जब तक व्यक्ति वासना मुक्त नहीं होजाता तब तक वह परमात्मा को देख ही नहीं सकता। वह सिर्फ वासना और वासनाओं के विभिन्न रूप, रंग आकार-प्रकार को ही देखता है। अतः परमात्मा को देखने के लिए जीवात्मा रूप मूलतत्त्व को परिष्कृत कर लेने की आवश्यकता है अर्थात् वासना से मुक्ति पाने की साधना करना चाहिए। हमेशा स्मरण रखने की बात यही है कि जब तक वासना रहेंगी। भगवान दिखाई नहीं देंगे। जिन्हें भगवान देखने हैं उन्हें अपनी वासनायें दूर करनी चाहिए।

जानी तथा ज्ञानी।

(स्वामी मनोहरदास ज्ञानतीर्थ, दीनवा)

न जानकर भी जानकार बनने का दंभ भरने वाले व्यक्तियों की संसार में कमी नहीं है। ऐसे व्यक्ति आम जनता को गुमराह करने में भी नहीं चूकते। देखा यह गया है कि जिनके पास तत्व की जितनी कम मात्रा होती है, दंभ में वे उतने ही अधिक बढ़े हुए रहते हैं पर जैसे जैसे तत्व की मात्रा बढ़ती जाती है, जानकारी और अनुभव बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे विनय, नम्रता आदि गुणों की भी वृद्धि होती जाती है।

जो ज्ञानी है उसे अहंकार छू भी नहीं जाता। "जब 'मैं' था तब 'तू' नहीं, जब 'तू' है 'मैं' नाहिं" जैसी सूक्ति उस पर फलितार्थ होती है। मैं या अहंकार तब ही तक रहता है जब तक ज्ञान नहीं रहता। सर्वं खलु इदं ब्रह्म—यह सब तो ब्रह्म ही है, आत्मा ही है, समझने वाला अपनी आत्मा से अन्य प्राणियों के शरीर में समाई हुई आत्मा में भिन्नता देख ही नहीं पाता तब अहंकार द्वारा वह किस पर अपनी सत्ता का आरोप करे, इस लिए ज्ञान हो जाने के अनन्तर अहंकार अपने आप उससे दूर रहता है। इसी तरह उसे किसी प्रकार की आकांक्षा भी नहीं रहती क्यों कि तब उसमें व्यापकता का प्रसार हो जाता है। ऐसे ज्ञानी में अपने पुत्र स्त्री में और अन्य के पुत्र स्त्रियों में कोई मोह विषयक भेद नहीं रह जाता। संसार में समदृष्टि उसे प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार न उसमें एषणाओं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा—के लिए ही गुंजाइश रहती है, न उसे अपने लिए किसी विशेषता-प्राथमिकता पाने के लिए लालच। अलबत्ता वह जहां जहां दुःख और दुःखी समुदाय देखता है, वहीं वह उस समुदाय को दुःख से मुक्त करने के लिए प्रयत्न करता है। उसे सिद्धि का लोभ नहीं रहता। न योगी, ज्ञानी, वैरागी कहलाने का। वह अपने प्रभु को सर्वत्र देखने के कारण आप को सब ही का अनुचर समझने लगता है।

वस्तुतः देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि अहंकार ही एक ऐसा तत्व है जिसने [illegible] मूल तत्व के साथ मानव को पृथक् कर रखा और इसी लिए आज मानव जीवन दुःखों और विपत्तियों से घिरा हुआ है। इसलिए जिन्हों ज्ञान पूर्वक अहंकार को दिव्य बना लिया है ही ज्ञानी हैं, जिनके जीवन में क्षुद्र अहंकार [illegible] सत्ता मौजूद है, भले ही वे पंडित हों, पठित हों, विद्वान् और शिक्षित हों, वे ज्ञानी नहीं हो सकते उनकी संज्ञा 'जानी' कही जायगी।

बीमारी का आधा इलाज—व्याकुलता रोकना।

(श्री इन्द्रचन्द्र भूरा सिवनी)

बीमार की घबड़ाहट जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे ही खून की गर्मी बढ़ती जाती है और दिल की धड़कन भी। घबड़ाया हुआ बीमार औषधि का पूरा पूरा उपयोग नहीं ले पाता, इसलिए बीमार को ठीक करने का सबसे अच्छा और प्रारंभिक उपचार है उसकी घबड़ाहट दूर करना।

रोग की तेजी, रोग की असाध्यता, बुरा वातावरण और रोगी की कमजोरी ये सब ऐसी बातें हैं जो रोगी में घबड़ाहट पैदा कर दे

है इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसा प्रयत्न किया जावे जिससे रोगी जहां रहे, सोवे, उठे बैठे वहां का वातावरण अत्यन्त शान्त एवं आनन्द वर्द्धक हो। उसके कमरे में और आसपास धूप, गूगुल या लोबान की धूनी दी जावे उसके पास जो आदमी आवें, बैठें उठें वे रोगी को साहस बँधावे और उसके दिमाग में रोग की परेशानियों को बढ़ाने वाली बात चीत बन्द रखें, न परिवार संबंधी परेशानियों का ही उसके सामने जिक्र करें। यदि रोग की तेजी हो और रोगी बातून हो तो उसे बातों में लगाये रहकर रोग की तेजी का उसे अनुभव न होने दें और यदि रोगी खामोशी पसन्द हो तो वहां ऐसे किसी कार्य को न होने देना चाहिए ताकि वहां की खामोशी और शान्ति भंग होजावे।

डाक्टर के व्यवहार का रोगी के स्वास्थ्य पर और मन पर अच्छा खासा प्रभाव होता है। इसलिए रोगी को ढारस बंधाने के लिए डाक्टर से भी ऐसी बातें उसे समझवानी या उससे कहलवा देनी चाहिए जिससे उसकी उद्विग्नता न बढ़े।

औषधियों की समय पर दिये जाने एवं उचित समय पर निश्चित खानपान सेवा सुश्रूषा के मिलने से भी रोगी को विश्राम मिलता है। इस लिए इन सारी चीजों का सख्ती से पालन होना चाहिए।

कभी कभी देखा जाता है कि रोगी बहुत दिनों तक रोग ग्रस्त रहने के कारण चिड़चिड़ा हो जाता है इसलिए परिचारक को चाहिए कि वह रोगी के चिड़चिड़ेपन को बर्दाश्त करे और रोगी से कभी भी मजाकर न बोले, न उसके किसी कार्य से उत्तेजित हो और न भला बुरा कहे। अधिक दिनों के रोगी को प्रति कभी २ लोगों में उपेक्षा भी आजाती है, यह भी बुरी बात है। लोगों की यह उपेक्षा बीमार को आसानी से घबड़ा देती है और ऐसे समय बीमारी के बढ़ने का खतरा रहता है। इसलिए परिचारक को तथा मिलने जुलने वालों को व्यवहार में शिष्टता और सौम्यता का व्यवहार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। तात्पर्य यही है कि बीमार को जितना धैर्य मिलेगा, सान्त्वना मिलेगी, आराम मिलेगा उतना जल्दी अच्छा होगा, और उतनी दवाई का असर होगा।

संसार में शान्ति की स्थापना कैसे हो ?

(श्री अशर्फीलाल वर्मा मुख्तार)

आजकल संसार की राजनीति बड़ी उलझी हुई है। कूट नीतिक दावपेचों के आधार पर शक्ति शाली देश अपनी प्रभुता को बढ़ाने के लिए चालें चल रहे हैं। एक को दूसरे पर विश्वास नहीं, एक ओर संधियों और समझौते कागज पर हस्ताक्षर होते हैं दूसरी ओर उनका उल्लंघन शुरू होजाता है। दूसरों को गिरा कर स्वयं सम्पन्न बनना आज की राजनीति का प्रमुख आधार है।

एक ओर संसार के राष्ट्रों में इस प्रकार की खींचतान चल रही है दूसरी ओर भीतरी शान्ति व्यवस्था भी कायम नहीं होरही है। चालाक, धूर्त, और लुटेरे किसी प्रकार धन की बहुत बड़ी मात्रा अपने पास जमा करके उसके द्वारा शक्ति शाली बनते हैं, वे प्रजा को चूसते हैं और राज-सत्ता को अपने पैसे के बल पर अपने पक्ष में मिलाये रहते हैं फल स्वरूप गरीब जनता को उचित मात्रा में राजकीय संरक्षण नहीं मिलता और वह मानवोचित उन्नति के साधनों से वंचित रह जाती है। अधिकांश देशों की जनता इसी प्रकार के शासन तंत्रों के नीचे पिस रही है। कहने को वे भले ही स्वतंत्र या प्रजातंत्र कहे

आंव पर वहां वैसे लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते जैसे कि इस प्रकार के तंत्रों के अन्तर्गत होने चाहिए।

इस अव्यवस्था का कारण है शासन तंत्रों पर अध्यात्मवाद का, धर्म का नियंत्रण न होकर-उनका धूर्तता पूर्ण एवं कूट-नीति प्रधान होना। प्राचीन काल में राजा शासन तो करता था पर उस पर नियन्त्रण ऋषि रूप गुरुओं का रहता था। रघुवंशी राजाओं की कई पीढ़ियों पर महामुनि वशिष्ठ का अंकुश रहा। वे प्रजा के हित को धर्म आचरण को, न्याय को प्रधानता देते हैं। यही कारण था कि एक तंत्र राज्य होते हुए भी शासन व्यवस्था ऐसी आदर्श थी कि रामराज्य को आज भी सराहा जाता है। दूसरी ओर आज के प्रजातंत्र हैं जिनकी जनता कष्ट और कठिनाइयों के बीच पिसी जारही है।

आजकल चारों ओर आसुरी शक्तियों का बोल बाला है। आध्यात्मिक शक्ति हुकूमतों के पास नहीं है। वे मस्त जंगली हाथियों की तरह निरंकुश होकर स्वच्छन्द आचरण करती हुई विचरण करती हैं। भीतरी शासन व्यवस्था और विदेशों से संबंध के लिए किन्हीं आदर्शों का ध्यान नहीं रखतीं वरन् शासकों की कूट नीतिक महत्वाकांक्षाऐं ही प्रधान रूप से कार्य करती हैं, जिसके कारण असंख्य प्रजाजनों को युद्ध आदि की भयंकर विपत्तियों में पिसना पड़ता है।

वैज्ञानिक उन्नति तथा साधन सामिग्री को बढ़ा कर जनता की सुख शान्ति की आशा आज के राजनैतिक नेता करते हैं पर यह मृगतृष्णा कभी पूरी होने की नहीं। क्योंकि यदि किसी वस्तु का सदुपयोग न किया जाय तो अच्छी से अच्छी वस्तु भी हानिकारक बन जाती है। विद्या, बुद्धि, धन, शास्त्र, बल, विज्ञान आदि के बढ़ जाने पर भी जब तक संसार में शान्ति नहीं होसकती जब तक कि शासकों के तथा प्रजाजनों के मन में धर्म बुद्धि उत्पन्न न हो और वे धूर्तता पूर्ण कूटनीति को छोड़कर आत्मिक आधार पर अपने आदर्शों का निर्माण न करें।

संसार की सुख शान्ति की ठेकेदारी आज चंद मुट्ठी भर राजनैतिक नेताओं के हाथों में चली गई है। वे चाहें तो जरा सी बात के लिए लाखों करोड़ों मनुष्यों को मक्खी की मौत मरवा डाल सकते हैं,उन्हें बे घरवार बना सकते हैं और यदि वे चाहें तो ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं जिसमें करोड़ों आदमी सुख शान्ति का जीवन व्यतीत करें। इतनी बड़ी शक्ति हाथ में रखने वाले लोगों का आत्मिक धरातल ऊंचा होना चाहिए, या उनके ऊपर ऊंचे आत्मिक धरातल वाली आत्माओं का नियंत्रण होना चाहिए जिससे वे महान राजसत्ता का उपयोग विश्व मानव की सेवा के लिए ही करें।

जिनके हाथ में राज-सत्ता है उन्हें विश्व मानव की सुख शान्ति को ध्यान में रखते हुए अपने तुच्छ कूटनीतिक दायरे से ऊपर उठना चाहिए और जिन प्रजाजनों को अपना भाग्य निर्माण करने के लिए वोट का अधिकार मिला हुआ है उन्हें अपनी सम्मति का उपयोग ऐसे लोगों के पक्ष में करना चाहिए जो भौतिक खींचतान की अपेक्षा उच्च आदर्शों में विश्वास रखते हैं।

सरकारें अपनी नीति का रूपान्तर कर डालें तो आज की समस्त अशान्तियां कल ही स्थायी शान्ति में परिवर्तित हो सकती हैं। एक दिन पं० नेहरू ने अमेरिका के नाम ब्राडकास्ट करते हुए कहा था कि—"संसार में अमन कायम हो सकता है केवल गांधी जी के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करने से। जब तक अध्यात्मिक सिद्धान्तों पर रूहानियत का शासन नहीं हो जाता तब तक शान्ति की स्थापना कदापि नहीं हो सकती।" काश, इस तथ्य को भारत सरकार ने ही अमली रूप दिया होता तो संसार के लिए एक आदर्श उपस्थित हो जाता।

पुरुषार्थ कीजिए !

(प्रोफेसर रामचरण महेन्द्र एम० ए० हरबर्ट कालेज, कोटा)

मनुष्य संसार में सबसे अधिक गुण, समृद्धियां, शक्तियां लेकर अवतरित हुआ है। शारीरिक दृष्टि से हीन होने पर भी परमेश्वर ने उसके मस्तिष्क में ऐसी २ गुप्त आश्चर्यजनक शक्तियां प्रदान की हैं, जिनके बल से वह हिंस्र पशुओं पर भी राज्य करता है, दुष्कर कृत्यों से भयभीत नहीं होता आपदा और कठिनाई में भी वेग से आगे बढ़ता है।

मनुष्य का पुरुषार्थ उसके प्रत्येक अंग में कूट कूट कर भरा गया है। मनुष्य की सामर्थ्य ऐसी है कि वह अकेला समय के प्रवाह और गति को मोड़ सकता है। धन, दौलत, मान, ऐश्वर्य, सब पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

अपने गुप्त मन से पुरुषार्थ का गुप्त सामर्थ्य निकालिए। वह आपके मस्तिष्क में है। जब तक आप विचार पूर्वक इस अन्तःस्थित वृत्ति को बाहर नहीं निकालते तब तक आप भेड़ बकरी बने रहेंगे। जब आप इस शक्ति को अपने कर्मों से बाहर निकालेंगे, तब प्रभावशाली बन सकेंगे।

संसार के चमत्कार कहां से प्रकट हुए? संसार के बाहर से नहीं आये, और ब्रह्म शक्ति आकर उन्हें प्रस्तुत नहीं कर गई है। उनका जन्म मनुष्य के भीतर से हुआ था। संसार की सभी शक्तियां, सभी गुण, सभी तत्व, सभी चमत्कार मनुष्य के मस्तिष्क में से निकले हैं। उद्‌गम स्थान हमारा अन्तः करण ही है।

संसार में छोटे-मोटे लोगों के तुम क्यों गुलाम बनते हो? क्यों मिमियाते, भौंकते या बड़बड़ाते हो, दुःख, चिंता और क्लेशों से क्यों विचलित हो उठते हो। नहीं, मनुष्य के लिए इन सबसे घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो अचल, दृढ़, शक्तिशाली और महाप्रतापी है।

इसी क्षण से अपना दृष्टिकोण बदल दीजिये। अपने आप को महप्रतापी, पुरुषार्थी पुरुष मानना शुरू कर दीजिये। तत्पर हो जाइये। सावधानी से अपनी कमजोरी और कायरता छोड़ दीजिये। बल और शक्ति के विचारों से आपका सुषुप्त अंश जाग्रत हो उठेगा।

सामर्थ्य और शक्ति आपके अन्दर है। बलका केन्द्र आपका मस्तिष्क है, वह नित्य, स्थायी और निर्विकार है फिर किस वस्तु के अभाव को महसूस करते हो? किस शक्ति को बाहर ढूंढ़ते फिरते हो? किस का सहारा ताकते हो? अपनी ही शक्ति से आपको उठना और उन्नति करनी है। उसीसे प्रभावशाली व्यक्तित्व बनाना है। आपको किसी भी बाहरी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। आपके पास पुरुषार्थ का गुप्त खजाना है। उसे खोलकर काम में लाइये।

मनुष्य को संसार में महत्ता प्रदान करने वाला पुरुषार्थ ही है। उसी की मात्रा से एक साधारण तथा महान् व्यक्ति में अन्तर है। पुरुषार्थ की वृद्धि पर ही मनुष्य की उन्नति निर्भर है। सामर्थ्य सम्पन्न मनुष्य ही सुख, सम्पत्ति, यश, कीर्ति एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है।

पुरुषार्थ का निर्माण कई मानसिक तत्वों के सम्मिश्रण से होता है। (१) साहस—इन सबमें मुख्य है। दैनिक जीवन, नये कार्यों, तथा कठिनाई के समय हमें कोई भी वाह्य शक्ति आश्रय प्रदान नहीं कर सकती। साहसी वह कार्य कर दिखाता है जिसे बलवान् भी नहीं कर पाते। साहस का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तः स्थित निर्भयता की भावना से है। उसीसे साहस की वृद्धि होती है। (२) दृढ़ता—दूसरा तत्व है जो पुरुषार्थ प्रदान

करता है। दृढ़ व्यक्ति अपने कार्यों में खरा और पूरा होता है। वह एकाग्र होकर अपने कर्तव्य पर डटा रहता है। (३) महानता की महत्वाकांक्षा-पुरुषार्थी को नवीन, उत्तरदायित्व—जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने का निमंत्रण देती है और मुसीबत में धैर्य एवं आश्वासन प्रदान करती है। स्वेटमार्डन साहब के अनुसार बड़प्पन की भावना रखने से हमारी आत्मा की सर्वोत्कृष्ट शक्तियों का विकास होता है, वे जागृत हो जाती हैं। इस गुण के बल पर पुरुषार्थी जिस दिशा में बढ़ता है, उसी में ख्याति प्राप्त करता चलता है वह अपने महत्व को समझता है, और अपनी सभी शक्तियों के द्वारा सदा आत्म-महत्व को बढ़ाता रहता है।

हत्यारी दहेज प्रथा को बन्द करो ?

(श्री स्वामी सत्यभक्तजी)

एक तरफ संसार के वे लोग हैं जो विवाह के समय पत्नी को अधिक से अधिक भेंट देते हैं और उस भेंट की रक्षा करना सारे समाज का कर्तव्य समझा जाता है, लड़की के कारण उसके कुटुम्बियों पर कोई जबर्दस्त बोझ नहीं पड़ता, और दूसरी तरफ आप हैं जो लड़की के बाप को उसके परोपकार के कारण अधिक से अधिक लूट डालते हैं, दहेज की मार से उसकी जिंदगी बर्बाद कर देते हैं ऐसी हालत में आप नारी रत्न को रखने लायक कैसे होसकते हैं ? आजके युवक अच्छी से अच्छी लड़की को दहेज के बिना स्वीकार नहीं करते बल्कि तरह तरह से लड़की के कुटुम्बियों को चूसने की, ठगने की, दबाने की कोशिश करते हैं ऐसे हरामखोर युवक जिस कौम में भरे पड़े हों वह कौम जिन्दा रहे तो कैसे रहे ? और जिन्दा रहे तो क्यों रहे ? यह बिलकुल ठीक है और उचित है कि वह कौम नाश के मुँह में जारही है। अगर आप अपनी कौम को जिलाये रखना चाहते हैं तो आप को कन्याओं के कुटुम्बियों का खून चूसना-दहेज लेना-सख्ती से बंद करना पड़ेगा। वेश्याओं की कमाई को हम बुरी कमाई कहते हैं पर उससे सौगुनी बुरी दहेज की कमाई है। इसमें जो हरामखोरी है, अन्याय है, सामाजिक सर्वनाश है वह वेश्या की कमाई में नहीं है। बंगाल में आज हिन्दू, जो गैरहिन्दुओं से कम रहगये हैं और अत्याचार से पीड़ित हैं उसमें एक कारण यह दहेज की कुप्रथा भी है। आप अगर मौत से बचना चाहते हैं तो इस कुप्रथा को जड़मूल से उखाड़िये और इसके विरोध में ऐसा वातावरण खड़ा कीजिये कि कोई भी युवक दहेज या हुंडा लेने की हरामखोरी न कर सके। शिक्षितों में तो यह बीमारी दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इससे बढ़कर शिक्षा को लजाना और क्या होगा। औरत के नाम की कमाई खाने वाले लोग यदि युवक हैं, पुरुष हैं, तो फिर हिजड़ा कौन है ! आप अपने युवकों में वह आत्मगौरव, पुरुषत्व पैदा कीजिये कि दहेज के नाम से ही वे शर्मिन्दा होजायँ, जान दे दें पर दहेज न लें। आप बेटी का मर जाना या व्यभिचारिणी बनना भी मंजूर करें पर इन हिजड़ों के गले बांधना मंजूर न करें।

यह कुप्रथा एक प्रकार से नारी जाति का घोर अपमान है। जैसे बूढ़ी गाय को बिना धन लिए कोई पुरोहित दान में लेने को तैयार नहीं होता वैसी ही दयनीय दशा आज लड़कियों की होरही है। दहेज प्रथा के विरोध में जब तक आप जहाद न बोलेंगे, धर्मयुद्ध न करेंगे तब तक आप अपनी कौम को जिन्दा नहीं रख सकते, इस अन्याय के कारण आपका समाज नरक बनेगा और अन्त में मिट जायगा।

तुम विफल क्यों हुए ?

हर एक व्यक्ति अपने कार्य में सफलता चाहता है। और सफलता जब नहीं मिलती तब निराश हो बैठ रहता है। कभी कभी तो अपनी निराशा से उकता कर आदमी आत्म हत्या जैसा जघन्य कार्य कर बैठता है या किसी मार्ग की ओर अग्रसर होजाता है।

लेकिन विफलता जब आती है तो उसका उद्देश्य विफल करना नहीं होता है। विफलता तो एक चेतावनी होती है मनुष्य के लिए कि जिस प्रयत्न से, जिस उत्साह से उसने कार्य का आरंभ किया है, धीरे धीरे अब उसमें कमी आ रही है और इसलिए सफलता पाने के हेतु उसे आत्म-निरीक्षण करना चाहिए जिससे संलग्नता में कमी न आवे, उत्साह में कमी न आवे।

देखा यह जाता है कि जिस स्थिति और जिस समय में कार्य का आरंभ होता है, वैसी स्थिति और समय एक सा नहीं रहता, वह हमेशा बदलता रहता है इसलिए यदि उत्साह का वेग एकसा ही रहे तो समय और स्थिति के परिवर्तित हो जाने के कारण वह वेग भी कम या ज्यादा लगने लगता है। इसलिए कार्य निष्ठ व्यक्ति का यह कर्त्तव्य रहता है कि समय तथा परिस्थिति का खयाल करते हुए अपने उत्साह को कार्य की सफलता के उपयुक्त रखने का प्रयत्न करें। समय की गति को पहचानने की दृष्टि जिन्हें मिल चुकी है और जो स्थिति एवं वातावरण से परिचित रहने के लिए हमेशा जागरूक रहते हैं वे हमेशा उन्नति की ओर बढ़ते ही रहते हैं। विफलता के उन्हें कभी दर्शन नहीं होते।

लेकिन विफलता की जैसे ही शुरूआत होती है वैसे ही मनुष्य प्रमाद से घिर उठता है, सबसे पहले तो उसकी चैतन्यता पर आघात होता है। वह सही कदम उठाने के पहले, क्या सही है, यही भूल जाता है इसीलिए विफलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और आदमी अपना होश हवाश खोता जाता है। ऐसे ही समय संकल्प शक्ति को स्मरण करते हुए आदमी नीचे गिरने से बच जाता है।

कार्य की सिद्धि होने में मानसिक अस्वस्थता के कारण आदमी को बाधायें घेर सकती हैं। पर जो बाधाओं को जीतते चलने के लिए प्रतिज्ञा किए बैठे होते हैं बाधायें उन पर विजय नहीं पातीं बल्कि वे बाधाओं पर विजय पा लेते हैं। एक बार जिस किसी प्रकार बाधाओं पर विजय पा लेने के बाद फिर उत्साह में कमी आने की संभावना नहीं रहती। और जब उत्साह में कमी न हो तो विफल होने का कारण ही समाप्त हो जाता है।

जिस उत्साह से कार्य आरम्भ किया है, उसी उत्साह से विघ्न बाधाओं से जूझते हुए आगे बढ़ते रहने का नाम ही अध्यवसाय है। चाह हो, संकल्प भी हो परन्तु ये दोनों अन्त तक पूरे वेग से साथ न रहें तो किसी भी काम के सफल होने में सन्देह रहता है। इसलिए चाह और संकल्प के साथ सतत जागरूक रहो, हमेशा लगे रहो जैसे वाक्य स्मरण में ही नहीं रखने पड़ते बल्कि क्रियाक्षेत्र में भी इन्हें उतार कर लाना होता है। हमेशा अध्यवसायी बने रहना पड़ता है।

किसी कार्य के आरंभ करने के साथ वह एक से वेग से चलता रहे, बहुधा ऐसा होता नहीं है। कहीं न कहीं शिथिलता आती ही है। उससे डरने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि वहीं अपने अध्यवसाय की शक्ति का परिचय देने की आवश्यकता होती है। जो हमेशा जागरूक रहकर अपने अध्यवसाय का परिचय देते हैं, वे हारते हुए दीखने पर भी हमेशा जीतते ही रहते हैं। हार को वे हार नहीं गिनते बल्कि जीतने के लिए

एक प्रोत्साहन मानते हैं।

अनेकों पुरुषों के सामने नित्य ही ऐसी घटनायें घटती हैं, जिनका जितना सम्पूर्ण अध्यवसाय होता है वे उतने ही महान और सफल बन जाते हैं, जिनके उत्साह में जितनी कमी होती है वे उतने विफल मनोरथ होते हैं। अध्यवसायी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह आरम्भ से ही महान् हो, क्योंकि सामान्य से सामान्य व्यक्ति अपने अध्यवसाय के कारण महान बनते देखे गये हैं और महान से महान व्यक्ति भी अपने अध्यवसाय की कमी के कारण गिरते और असफल देखे गये हैं। इसलिए जो लोग यह कहते हैं कि हम ऐसा नहीं कर सकते, हम इसमें सफल नहीं हो सकते वे अपनी शक्ति का उपहास करते हैं। अध्यवसाय तो खासतौर से जो अभावग्रस्त हैं उन्हीं को उठाने का एक अमोघ अस्त्र है। महात्मा गान्धी को ऊंचा उठाने वाला उनका अध्यवसाय ही एक मात्र अस्त्र था। गान्धीजी कहा करते थे कि चाहे कोई मेरा साथ दे चाहे न दे, पर जिसे मैं ठीक समझता हूं उसे सारी विघ्न-बाधाओं को सहता हुआ भी करता रहूंगा। वे अपनी इस प्रतिज्ञा पर बराबर दृढ़ रहे, कभी एक मिनिट के लिए भी अपनी प्रतिज्ञा पर से हटने या शिथिल होने का उन्होंने नाम न लिया। उनका जीवन अनेकों असफलताओं में से गुजरा लेकिन इन असफलताओं ने भी उन्हें महान बनने में मदद ही दी। वे प्रत्येक असफलता के बाद अपने लक्ष्य पर चट्टान की तरह दृढ़ दिखाई दिए। उनका जो भी कदम उठता वह उतना ही दृढ़ होता जैसे पहाड़। यही कारण है कि वे संसार के सफल व्यक्तियों में से एक महान व्यक्ति हुए। कोई भी आदमी अपने अध्यवसाय को कायम रखकर यदि अपनी जिन्दगी में दृढ़ बना रहे तो कष्ट सहने और विघ्न बाधाओं से घिरे रहने के बाद भी वह सफल होगा इसमें सन्देह नहीं है। पर उसे अपने विश्वास को दृढ़ रखने की आवश्यकता है और प्रत्येक विफलता के प्रति जागरूक रहकर आगे बढ़ते रहने के लिए अपने कदमों को दृढ़ रखने की जरूरत है।

हम कहाँ जारहे हैं ?

(श्री विट्ठल शर्मा चतुर्वेदी)

—+—

मनुष्य इस संसार चक्र में घूमते हुए अपने परिभ्रमण पर क्या कभी गौर करके यह सोचता है कि हम कहां जारहे हैं ? जब कि हम जारहे हैं, परिभ्रमण कर रहे हैं, इसे वह स्पष्ट देखता है। इस प्रकार आंखों पर पट्टी बांध कर चलते हुए क्या किसी लक्ष्य पर पहुंचने की कल्पना की जा सकती है।

लोगों का कहना है आज का युग मस्तिष्क प्रधान है। जितना जिसका दिमाग ज्यादा चलता है उसकी उतनी ही अधिक पूँछ होती है और इस दिमाग चलने में दूसरों को ज्यादा से ज्यादा मात देना शामिल है। सिर्फ अपनी सत्ता कायम करने के लिए दिमाग की अपेक्षा है। विज्ञान की जो उन्नति आज दिखाई दे रही है क्या उसमें अपनी सत्ता कायम करने की भावना नहीं है तब क्यों न मान लिया जावे कि इस परिभ्रमण का एक मात्र उद्देश्य अपनी सर्वोपरि सत्ता कायम करना है। इतने महाविनाश महायुद्ध का यही तो एक मात्र हेतु है। परमाणु बम जैसे बमों का आविष्कार और परमाणु शक्ति पर एकाधिकार की पुकार क्या इसका सबूत नहीं है ? और इसकी उपज का आदि स्थान है मस्तिष्क। इसलिए यह युग मस्तिष्क प्रधान है ऐसा कहा और माना जाता है।

दूसरों को नष्ट करके अपनी सत्ता कायम करना किसी के भी जीवन का उद्देश्य नहीं

माना जा सकता। इसे साधन तो माना जा सकता है क्योंकि किसलिए सत्ता कायम करना यह प्रश्न तो शेष रहता ही है। और फिर दूसरों को नष्ट करके अपनी सत्ता कायम किस पर की जायगी इसे सोचने वाला भी तो चाहिए। यह काम भी तो इस मस्तिष्क के युगमें नहीं हो रहा।

हमारा काम यह भूल जाने से नहीं चल सकता कि इस मनुष्य लोक को चलाने वाला अकेला मस्तिष्क ही नहीं हृदय भी है। हृदय और मस्तिष्क दोनों के ही योग से मनुष्य लोक संचालित होरहा है। अकेला मस्तिष्क विनाश तो कर सकता है लेकिन सृजन नहीं कर सकता। सृजन के लिए हृदय की आवश्यकता होती है। हृदय को भुला देने के कारण ही दूसरों को अपने में मिला लेने की शक्ति समाप्त होगयी है। लोग यह भूल गये हैं और भूलते जारहे हैं कि प्रत्येक प्राणी में एक ही आत्मा है, एक ही हृदय है और उसे विनाश के द्वारा नहीं सेवा द्वारा, त्याग द्वारा एक सूत्र में पिरोया जा सकता है। सर्वोच्च नहीं बल्कि सम्पूर्ण एकत्व कायम किया जासकता है।

मस्तिष्क हमें और हमारी स्थिति को निरन्तर भुला रहा है, वह एक नया और काल्पनिक रूप अपने सामने रखता है जिसके कारण वास्तविकता दूर हटती जारही है। स्वार्थ परता इतनी अधिक बढ़ गई है कि जो हमारे निकट वर्त्ती हैं और अत्यन्त अपने हैं उनसे भी हमें डर लगने लगा है। हम जिसे उन्नति कहते हैं, विकास कहते हैं, यह हमें बड़ीतेजीसे विनाश की ओर लेजारही है। सहृदयता, सहानुभूति, दया, प्रेम सब ही तो लुप्त होते जारहे हैं। जड़ता नित्य निरन्तर सघन होती जारही है। इसलिए सर्वोच्च सत्ता कायम करने की बात तो अलग रही सामान्य सत्ता के लिए भी स्थान रहेगा इसमें भी सन्देह है।

आज मस्तिष्क रास्ता भूल गया है! अपने साथी को—हृदय को छोड़कर अन्धकार के मार्ग पर चल रहा है। आज की समस्त विषमताओं का श्रेय मस्तिष्क को है।

हमारा रास्ता गलत है और मस्तिष्क में इस गलती को समझने की भी शक्तिनहीं है। इसलिए हम प्रत्येक कदम पर गलती कर रहे हैं। अपनी सत्ता को मिटा रहे हैं। हम चले हैं अपनी सत्ता स्थापना के लिए, लेकिन खोद रहे हैं अपनी सत्ता की ही जड़ें।

आज समय है कि अपनी गलती को समझने के लिए हृदय का साथ लें। दूसरे को नाश करना नहीं, आत्मसात् करना सीखें, दूसरे में मिलना सीखें, उसे देना सीखें। ग्रहण का रास्ता छोड़ दें, त्याग का रास्ता पकड़ें। वह रास्ता ही हमें बतायेगा कि हमें कहां जाना चाहिए और क्या करना चाहिए। जब तक यह नहीं है तब तक हम कहां जारहे हैं इसका सही उत्तर भी कौन देगा? उत्तर देने वाले को तो आपने पहले ही भुला दिया है।

भीष्म की इच्छा मृत्यु कैसे हुई?

(पं० निरंजनप्रसादजी गौतम, पटलौनी)

महाभारत के भीष्म पर्व में अध्याय १२० में उल्लेखहै कि पितामह भीष्म ने शरशय्या पर गिर कर तबतक अपने प्राणों को रोक रक्खा जब तक सूर्य उत्तरायण नहीं हुआ, उन्होंने अपने प्राणों को कुबेर अथवा, रावण से आक्रान्त हुए सूर्य के उत्तर दिशा में आने पर ही विसर्जन करने का दृढ़ निश्चय करलिया था, और वे सफल भी हुए।

अब यह विचार करना है कि उत्तरायण सूर्य होने पर ही महर्षि भीष्म ने अपना शरीर क्यों

छोड़ना चाहा क्यों कि दिग्वाची शब्द तो आपेक्षिक है जैसा उत्तरायण वैसा दक्षिणायन भी, फिर उत्तरायण ही श्रेष्ठतम क्यों ? और यदि उत्तरायण सूर्य में प्राण विसर्जन करने वाले को ही सद्‌गति मिलती है तो क्या भीष्म के अतिरिक्त सभी ऋषि महर्षियों को सद्‌गति से वंचित रहना पड़ा होगा जिन्होंने अपनी मृत्यु में अयन की अपेक्षा नहीं समझी ?

वेद, उपनिषद् आदि अनेक शास्त्रों में मानव जीवन व्यतीत करने के दो मार्गों का वर्णन मिलता है १—देवयान, २—पितृयान, जैसा कि ऋग्वेद में उल्लेख है—

> द्वे सृती अशृणवं पितृणाम्
> अहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
> ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति
> यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

कठोपनिषद् के अनुसार इन दोनों को श्रेय और प्रेय कहा है, यथा—

> श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतस्
> तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ॥
> श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते ।
> प्रेयो मन्दो योग क्षेमाद् वृणीते ॥

जिनमें श्रेय को मोक्ष मार्ग और प्रेय को भोग मार्ग ठहराया है । प्रथम श्रेय मार्ग अर्थात् मोक्ष मार्ग का सम्बन्ध उत्तर से है, और इसी प्रकार प्रेय मार्ग अर्थात् भोग मार्ग का दक्षिण से । साथ ही 'विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः' आदि अनेक वेद वाक्यों से यह भी स्पष्ट है, कि इन्द्रलोक अर्थात् देवलोक भी उत्तर में ही है तथा 'दक्षिणावृत हि पितृ लोकम्' इस (तैत्तरीय १।६।८।५) वाक्याधार पर दक्षिण में पितृलोक भी प्रसिद्ध है ।

वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा—ये तीन ऋतुयें उत्तरायण सूर्य होने पर ही आती हैं तथा शेष शरद्, हेमन्त और शिशिर—ये दक्षिणायन सूर्य में ।

इस लिए हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि उत्तर दिशा तथा पूर्वोक्त तीन ऋतुएं—ये देव स्थान हैं । इससे स्पष्ट है कि सूर्य के उत्तरायण होने पर देवों में, और दक्षिणायन होने पर पितरों में स्थान मिलता है ।

सूर्य का उत्तरायण होना—

> यशोदां त्वा तेजोदां त्वा
>
> —तैत्तरीय सं०

इस वाक्यानुसार उत्तरायण सूर्य का यशस्वी और तेजस्वी होना कहा है—इसके अतिरिक्त दक्षिण दिशा में यम का आधिपत्य भी कहा है ।

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि पितामह ने मोक्ष मार्ग तथा देवलोक आदि की कामना से दक्षिणायन में प्राण परित्याग श्रेष्ठ न समझा ।

वह मृत्यु पर विजयी कैसे हुए—

शतपथ में ज्योति स्वरूप सूर्य को 'रेतोदेवता' के नाम से पुकारा है । इस शब्द के अनुसार सूर्य का देवतात्व भी रेतस् अर्थात् वीर्य में होना चाहिये । 'उत्तरायण' और 'दक्षिणायन' इन दो नामों के भेदानुसार वीर्य को भी दो भेद हुए १—ऊर्ध्वरेतस्, २—अधोरेतस् ।

'ऊर्ध्व रेतस्' का सरलार्थ है वीर्य को ऊपर की ओर ले जाना अर्थात् उसको नीचे की ओर जाने से निरोध करना । दूसरे शब्दों में इसे ब्रह्मचर्य भी कहते हैं ।

भीष्म ने अपना पूरा जीवन ब्रह्मचर्य को ही दे डाला यह सर्वमान्य है फिर मृत्युकाल में ही वे ऊर्ध्वरेतस् न रह कर—इसीलिए देवलोक और श्रेयमार्ग से वंचित रह कर पितृ-लोक और यमपुराभिमुखी क्यों बनते ?

भगवान् कृष्ण ने गीता में, अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, वर्ष के प्रथम ६ मास और उत्तरायण सूर्य—इन में मरने वाले को पुनः लौट कर नहीं आना पड़ता, यह कहा है तथा इसके प्रतिकूल धूम्र, रात्रि, कृष्णपक्ष और वर्ष का उत्तरार्ध भाग इस काल में जो प्राण छोड़ता है वह फिर संसार में लौटता है, यह भी कहा है ।

गीता के अनुसार यह निश्चय है कि मरते समय मनुष्य की जैसी विचार धारा होती उसी के अनुसार गति भी होती है । भीष्म पिताम

ने पूरे जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन कर मरते समयभी उनके विचार ब्रह्मकी ओरही रहे क्योंकि सांसारिक ऐषिणाओं को चाहने वाले,पुत्रपौत्रादि पैदा कर उन्हीं के द्वारा अमर होने वाले की भांति उनकी आकांक्षायें नहीं थीं। उन्हें तो पितृलोक और भोग मार्ग की अभिलाषा न होकर देवयान और ज्ञान मार्गियों के मार्ग का अनुसरण कर स्वर्ग की कामना थी।

उन्हें उत्तरायण की प्रतीक्षा क्यों करनी पड़ी? इसका उत्तर है यदि वे अन्य गृहस्थियों की भांति पितृमान में ले जाने वाले कार्यों से सदा अलग रहे तो फिर वे क्यों कर दक्षिणायन में मृत्यु होने से जनसाधारण की भांति यमातिथि बनते? क्या भीष्म जैसे आजन्म ब्रह्मचारी, तपस्वी और त्यागी ने भी अपने जीवन में भोग को स्थान दिया था? इसका उत्तर यही है भीष्म अनेक गुणों से युक्त तो थे साथ ही कुछ दोषी भी थे। तभी तो उन्होंने पाण्डवों का धर्म-युक्त पक्ष छोड़कर कुरुओं का साथ दिया। किन्तु यह जानते हुए भी कि पाण्डवों के कार्य न्याय संगत और उचित हैं उनका साथ छोड़कर कौरवों का साथ पकड़ा। इसका कारण यही था कि कौरवों द्वारा उन्हें धन, धान्य आदि मिलता था और इसीलिए कि मैं जिसका अन्न खाता हूं उसीका साथ दूँगा यह युधिष्ठर से स्पष्ट कह भी दिया था-

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्
इति सत्यं महाराज! बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः॥

पुरुष धन का गुलाम है न कि धन किसीका, इसी नियम के अनुसार युधिष्ठर? मैं कौरवों के साथ बँधा हुआ हूं।

क्योंकि भीष्म के जीवन में ईश्वर का स्मरण छोड़ कर धन धान्य की उपासना का दोष आ गया था, यही कारण था कि महर्षि होते हुए भी वह सांसारिक ऐषणाओं के वशी हो चुके थे। और इसी लिए भीष्म को उत्तरायण की प्रतीक्षा करनी पड़ी क्योंकि उनकी वृत्ति योग रहित थी और शक्तियों का आत्मा में केन्द्री करण नहीं किया गया था। अतः उनके धराशायी होते समय आकाश वाणी गूँजी कि—

'भीष्म! त्वं स्वच्छन्दमरणोसि।
तस्माद् योगमास्थाय उत्तरायणकालं प्रतीक्षस्व'।

भीष्म? तुम्हें वरदान मिला कि जब चाहो प्राण परित्याग करो इसलिए योग के आश्रयी होकर उत्तरायणकाल की ही प्रतीक्षा करो।

अमृत——कण

दान पर अपना गुजारा करने को अधिकार उसी व्यक्ति का है जो तन-मन से समाज और देश की सेवा करता है।

—उड़िया बाबा,

जिसका देह और मन शुद्ध न हो उसका मन्दिर में जाकर भगवान की पूजा करना व्यर्थ है। जिनके देह और मन दोनों पवित्र हैं भगवान उन्हीं की प्रार्थना सुनते हैं।

—स्वामी विवेकानन्द,

जो जाति अपना गौरव और आत्माभिमान छोड़ चुकी वह सांसारिक वैभव को फिर नहीं पा सकती।

—लाला हरदयाल,

दरिद्रता ही संसार में सब बुराइयों की जड़ है। इसके कारण ही मनुष्य के उच्च भावों का विनाश होता है।

—लाला हरदयाल,

जो सुखी रह कर संसार को सुखी करना चाहते हैं, वे असफल होते हैं; सफलता पाने के लिए तो अपने सुख को छोड़ना पड़ता है।

—लाला हरदयाल,

शारीरिक क्षीणता कमजोर दिमाग का चिन्ह है।

—लाला हरदयाल,

ज्ञान और चरित्र पूँजी सारे सुखों की पथप्रदर्शक है। बुद्धि और आचरण का जितना ही सदुपयोग होगा मनुष्य दरिद्रता, मूर्खता और रोग से उतने ही मुक्त होंगे।

—ला० हरदयाल,

शास्त्र मंथन का नवनीत।

———

अतिरमणीये कार्ये पिशुनोऽन्वेषयति दूषणान्येव।
अति रमणीये वपुषि व्रणमिव हि मक्षिकानिकरः॥७३

अति सुन्दर देह में भी जैसे मक्खियों का झुंड फोड़े फुन्सी ही को ढूँढता फिरता है, वैसे ही दुष्ट मनुष्य बहुत अच्छे काम में भी दोष ढूँढा करता है।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥ ७४

चारित्र्य की यत्न से रक्षा करनी चाहिए, धन तो आता जाता रहता है। धन से क्षीण २ नहीं कहलाता, परन्तु सदाचार से भ्रष्ट को तो मरा ही समझना चाहिये।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥७५॥

विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, सभा में बोलने की चतुरता, युद्ध म पराक्रम, यश में रुचि और शास्त्र सुनन म व्यसन ये सब महात्माओं के स्वाभाविक गुण हैं।

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥७६॥

जिनका मुख सदा प्रसन्न रहता है, जिनका हृदय दयालु है, जिनके वचन अमृत के समान होते हैं और परोपकार ही जिनके कार्य हैं, ऐसे सज्जन किसके वन्दनीय नहीं हैं।

हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कण्ठस्य भूषणम्।
श्रोतस्य भूषणं शास्त्रं भूषणैः किं प्रयोजनम्॥ ७७

हाथ का भूषण दान, कण्ठ का भूषण सत्य और कान का भूषण शास्त्र है। अन्य सोने चांदी के गहनों की क्या आवश्यकता है?

न जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति।
गुणधर्मविहीनो यो निष्फलं तस्य जीवितम्॥

जिसमें गुण है वह जीवित है, और जि[illegible] धर्म है वह जीवित है, गुण और धर्म से र[illegible] मनुष्य का जीवन व्यर्थ है।

इच्छेच्चेद्विपुलां मैत्रीं त्रीणि तत्र न कारयेत्।
वाग्वादोऽर्थसंबंधः तत्पत्नीपरिभाषणम्॥

जहां गाढ़ी मित्रता की इच्छा हो, [illegible] बात नहीं करनी चाहिए, वादविवाद, [illegible] लेन-देन और मित्र की स्त्री से बातचीत।

सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति कुलं तदवसीदति॥

जिस कुल में सभी मनुष्य विनयी हों, अ[illegible] सभी अभिमानी हों, या सब महत्व की इ[illegible] रखते हों, वह कुल नष्ट हो जाता है।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति॥

मनुष्य को अपने आचरण की परीक्षा करते रहना चाहिये कि मेरा आचरण पशुओं [illegible] समान है या सत्पुरुषों के।

धनमस्तीति वाणिज्यं किंचिदस्तीति कर्षणम्।
सेवा न किंचिदस्तीति भिक्षा नैव च नैव च।

धन हो तो व्यापार करना चाहिये, [illegible] धन हो तो खेती करनी चाहिये, कुछ भी न हो तो नौकरी ही सही, परन्तु भीख तो क[illegible] मांगनी चाहिए।

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः।
मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम्॥

मुख में पिण्ड अर्थात् भोजन देने से [illegible] में कौन वश में नहीं हो जाता, मृदङ्ग भी [illegible] पर आटे का लेप करने से मधुर शब्द [illegible] लगता है।

———

महाभागवत बापू से।

(श्री कैलाशनाथ बुधवार)

कौन कहता इस जगत से अब नहीं सम्बन्ध तेरा ?
मुक्त तू तो बन्धनों से क्या मरण क्या जन्म तेरा ??

पाप से बोझिल धरा पर तू सदा अवतार लेता।
मूर्ख नश्वर प्राणियों को प्राण का उपचार देता॥
तू कभी बनकर महीदा सन्त की ज्योती जलाता।
तो कभी बन बुद्ध तू ही शान्ति का सन्देश लाता॥

है सदा से ही यही क्रम, कब हुआ क्रम बन्द तेरा ?
कौन कहता इस जगत से अब नहीं सम्बन्ध तेरा ?

इस घनी काली निशा में तू बना बापू उजाला।
दुखित पीड़ित मानवों में रक्त का संचार डाला॥
दे अहिंसा सत्य के दे शस्त्र था विजयी बनाया।
आज सब जग जगमगाता तू अमर आलोक लाया॥

था सबों का बन्धु तू और सब जगत था बन्धु तेरा।
कौन कहता इस जगत से अब नहीं सम्बन्ध तेरा ?

यदि कभी नरसिंह बनकर भक्त वत्सलता दिखाई।
तो कभी श्री कृष्ण होकर सुप्त मानवता जगाई॥
राम हो संसार में मर्याद की दृढ़ पंक्ति बांधी।
दान कलि को शांति सुख का दे गया बन 'संतगांधी'

है इसी से तो कहाता नाम कृपा सिन्धु तेरा।
कौन कहता इस जगत से अब नहीं सम्बन्ध तेरा ?

देख जकड़े दासता की बेड़ियों में पुत्र अपने।
मुक्ति का वरदान देकर कर दिये साकार सपने॥
प्रेम की दुनिया बसाई प्रेम के मधुकण पिलाये।
विष्णु ब्रह्मा हारते फिर कौन तुझको जान पाये॥

सृष्टि सारी को रुलाता प्रेम बन्धन आज तेरा।
कौन कहता इस जगत से अब नहीं सम्बन्ध तेरा ?